पाठालोचन

सिद्धान्त और प्रक्रिया



डॉ० मिथिलेश कान्ति

डॉ० विमलेश कान्ति



मूल्य १०.०० रुपये

५१-५२
्य-क्रम में
वह समय
विषय की
को पढ़ाने
गुप्त थे।
वषय के
त विषय
षय को
ा। सन्
की ओर
। इसके
ा अभाव
ी अनेक
ले ग्रन्थ
ई थी।
० गुप्त
ला कि

पाठा-
अति-
यशस्वी
र्षों से
हदी में
यों का
प्रथम
हिंदी



भूमिका

इस पुस्तक की नींव लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व रखी गई थी। बात सन् ५१-५२ की है। उसी वर्ष प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी एम. ए. (उत्तरार्ध) के पाठ्य-क्रम में विशेष अध्ययन के विषय में पाठालोचन को भी स्वीकार किया गया था। यह वह समय था जबकि हिंन्दी-जगत् में लोग 'पाठालोचन' शब्द से भी परिचित न थे। विषय की नवीनता, उपयोगिता एवं उसकी वैज्ञानिकता ने मुझे आकृष्ट किया। विषय को पढ़ाने वाले इस क्षेत्र के एक मात्र विद्वान्, तुलसी विशेषज्ञ, गुरुवर डा० माता प्रसाद गुप्त थे। उन्होंने भी मुझे इस विषय को लेने का परामर्श दिया, और इस प्रकार इस विषय के प्रथम विद्यार्थियों में से एक होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उसी समय इस विषय के प्रति मैंने हिंदी प्रेमियों में अज्ञान एवं विद्वानों में उपेक्षा देखी; तथा विषय को समझा सकने वाली उपयुक्त पुस्तक के अभाव की ओर भी मेरा ध्यान गया। सन् १९५२ में 'जायसी-ग्रन्थावली' के प्रकाशन ने विद्वानों का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट किया, फिर भी उसके स्वरूप और महत्त्व को समझा नहीं जा सका। इसके कई कारण थे—पाठालोचन-सम्बन्धी पुस्तक का अभाव, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव प्रचलित पाठ एवं मान्यताओं के प्रति मोह, आदि। यही कारण है कि आज भी अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों में प्रचलित एवं भ्रष्ट पाठ प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ स्वीकृत हैं। उसी समय पाठालोचन पर एक ग्रन्थ लिखने की मैंने योजना बनाई थी। एम. ए. करने के बाद ग्रंथ की विस्तृत रूपरेखा भी तैयार की गई, तथा डा० गुप्त के परामर्श से उसे अन्तिम रूप भी दिया गया पर समय का चक्र कुछ ऐसा चला कि इस कार्य को मैं उठा न सका।

१९६१-६२ में मेरे अनुज श्री विमलेश कांति ने एम. ए. (उत्तरार्ध) में पाठालोचन को ही अपना विशेष-अध्ययन का विषय चुना। डॉ. गुप्त के सम्पर्क के अतिरिक्त इस विषय का अध्ययन उन्होंने नंददास-ग्रंथावली और कवित्त-रत्नाकर के यशस्वी सम्पादक पं. उमाशंकर शुक्ल के निर्देशन में किया है। पं. शुक्ल गत अनेक वर्षों से सूरसागर की पाठ-समस्या के समाधान में व्यस्त हैं। इसी बीच इस विषय की हिंदी में प्रथम पुस्तक श्री कन्हैया सिंह द्वारा प्रकाशित की गई। इससे न केवल विद्यार्थियों का ही बड़ा उपकार हुआ, बल्कि विद्वानों को पाठालोचन से परिचित कराने का यह प्रथम ठोस कदम था। इसके लिए वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं। उनकी इस पुस्तक ने हिंदी

में इन विषय की पुस्तक के अभाव की कमी को पूरा करने का प्रयास तो किया है' फिर भी इस पर अभी और अधिक गंभीर विवेचन की आवश्यकता है।

इस पुस्तक की रचना में हमें अंग्रेजी तथा हिन्दी की अनेक पुस्तकों एवं पत्रिकाओं से सहायता मिली है। इन सभी पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का हमने मुक्त रूप से उपयोग किया है और इस स्थल पर हम उनके विद्वान लेखकों एवं प्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। ऐसे विद्वानों में सर्व श्री पोस्टगेट, हॉल, सुकथंकर, इजर्टन, डॉ. कत्रे, डॉ. गुप्त तथा डॉ. पारसनाथ तिवारी प्रमुख हैं। डॉ. माता प्रसाद गुप्त और डा. पारसनाथ तिवारी का मैं विशेष रूप से आभारी हूं जिन्होंने स्वयं सम्पादित ग्रंथों की प्रतियों के वंशवृक्षों को उद्धृत करने की मुझे अनुमति दी है।

प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि सन् १९६३ में तैयार होकर प्रकाशन के लिए दे दी गई थी किंतु विधिवत मुद्रण कार्य १९६६ में ही प्रारम्भ हो सका है। मुद्रक की असावधानी अज्ञानता और विषय-अनभिज्ञता के कारण मुद्रण सम्बन्धी अनेक त्रुटियां इसमें रह गई हैं। पाठालोचन सम्बन्धी पुस्तक में यद्यपि इस प्रकार की त्रुटियाँ अक्षम्य हैं तथापि सुविज्ञ पाठक एवं विद्वज्जन इन त्रुटियों की उपेक्षा करते हुए लेखक की सीमाओं को ध्यान में रखकर इसे स्वीकार करेंगे।

मिथिलेश कान्ति

१-१२-१९६६

विषय सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	पाठालोचन का स्वरूप और विस्तार	९-२४
२.	सामग्री और उसकी परीक्षा	२५-५२
३.	पाठ-विकृतियाँ और उनके कारण	५३-७८
४.	प्रतियों का वंश-वृक्ष-निर्माण	७९-११७
५.	पाठ-निर्धारण	११८-१३४
६.	पाठ-सुधार	१३५-१४४
७.	उच्चतर आलोचना	१४५-१४८
८.	हिन्दी-साहित्य की पाठ-समस्याएं	१४९-१५३
९.	हिन्दी पाठालोचन का संक्षिप्त इतिहास	१५४-१६४

परिशिष्ट

(१) लिपि और लेखन-सामग्री का इतिहास

(२) कुछ महत्त्वपूर्ण हिन्दी पारिभाषिक शब्द और उनके अंग्रेजी पर्याय

(३) कुछ महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द और उनके हिन्दी पर्याय

(४) सहायक ग्रंथ

: १ :

पाठालोचन का स्वरूप और विस्तार

विषय प्रवेश

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कवि के मूल पाठ का अनुसन्धान सामान्यतः पाठालोचन कहा जाता है। कोई भी व्यक्ति जब किसी भी रचयिता की रचना को पाठक के सामने प्रस्तुत करता है तो उसका उद्देश्य रचयिता की मूल रचना को अधिक से अधिक सुन्दर तथा रचयिता द्वारा अभीष्ट और प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक होता है कि जब किसी कवि की एक ही रचना के विभिन्न प्रतियों में विभिन्न पाठ प्राप्त हो रहे हैं तो वह इन विभिन्न प्राप्त पाठों में से उस पाठ को चुने जो कविकृत हो। इस मूल पाठ के अनुसंधान के लिए उसको विभिन्न अनुभवी विद्वानों द्वारा विभिन्न सिद्धांतों से सहायता लेनी पड़ती है। इन मूल पाठ अनुसन्धान संबन्धी सिद्धान्तों का अथवा मूल पाठ अनुसंधान संबन्धी प्रक्रिया का जिस शास्त्र में विवेचन होता है वह पाठालोचन कहलाता है।

पाठालोचन वर्तमान तथा प्राचीन दोनों प्रकार की रचनाओं का होता है। पाठालोचक वर्तमान लेखकों की रचनाओं में से साधारण अशुद्धियाँ दूर करते हैं। यह कार्य भी पाठालोचन के अन्तर्गत आता है। यदि ये अशुद्धियाँ ऐसी हुईं कि उनका सुधार मूल में नहीं किया जा सकता, तो पाठालोचक उनको पाद-टिप्पणियों में शुद्ध करता है। प्राचीन ताम्रपत्र शिलालेख, लौह स्तम्भ आदि पर खुदी प्रशस्तियाँ आदि प्रकृति के आघातों से खंडित तथा पेल हो जाती हैं। इनके पाठ को सुधार कर उन्हें पूर्ण करना भी पाठालोचक का काम है। यह समस्त कार्य पाठालोचन कहलाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में पाठालोचन का प्रयोग हम इतने व्यापक अर्थ में नहीं कर रहे हैं। शिलालेखों, ताम्रपत्र आदि के पाठों की समस्या साधारणतः पाठालोचन के अन्त-र्गत ही यद्यपि आती है किंतु यहाँ इसका प्रयोग हम एक संकुचित अर्थ में करेंगे। इसी प्रकार से वर्तमान ग्रन्थों का पाठालोचन भी इस शास्त्र के अन्तर्गत नहीं आता; फिर भी वर्तमान रचयिताओं के ग्रन्थों के विभिन्न संस्करणों का सापेक्षिक महत्त्व निश्चित करना इसी शास्त्र के अन्तर्गत आएगा। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' के 'आँसू' तथा

और विस्तार

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जो भी रचना प्रतिलिपि के रूप में होती हुई आज हमें प्राप्त होगी उसमें अवश्यमेव अशुद्धियाँ आ जाएँगी और यह प्रतिलिपि मूल से जितनी दूर होगी उतनी ही उसमें अधिक अशुद्धियाँ भी होंगी। इस प्रकार प्रतिलिपि रूप में प्राप्त रचना पूर्णतया अपने मूल रूप में कभी नहीं होगी। पाठालोचक का यथार्थ क्षेत्र इन्हीं हस्तलिखित प्रतियों में हैं। उसका कार्य "इन प्रतियों के आधार पर रचयिता के मूल पाठ को प्रस्तुत करना है। मूल पाठ का अर्थ वह पाठ है जो रचयिता को अभीष्ट था।"[1]

अनेक पाठालोचक अनेक वर्षों के परिश्रम तथा अनेक ग्रन्थों के पाठालोचन के पश्चात् कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर पहुँचे हैं जिनके उपयोग की मूल पाठ निर्धारण में आवश्यकता पडती है। यह सिद्धान्त किसी एक ग्रन्थ की पाठ-समस्या पर ही नहीं आधारित होते हैं। प्रत्येक ग्रन्थ की अपनी-अपनी पाठ समस्याएं होती हैं, किंतु उन समस्त ग्रन्थों के पाठालोचन के आधार पर कुछ सामान्य सिद्धान्त प्राप्त होते हैं जो कि सभी ग्रन्थों के पाठालोचन में लागू होते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक कविता एक दूसरे से भिन्न होती है, प्रत्येक नाटक एक दूसरे नाटक से भिन्न होता है, किंतु फिर भी उनके सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्त होते हैं, जिनके उल्लेख क्रमशः काव्यशास्त्र अथवा नाट्यशास्त्र में होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न ग्रन्थों के पाठालोचन के आधार पर प्राप्त सिद्धान्तों का वर्णन तथा विवेचन पाठालोचन शास्त्र में होता है। अब हम पाठालोचन शास्त्र की परिभाषा कर सकते हैं—

परिभाषा

पाठालोचन शास्त्र वह शास्त्र है जिसमें प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के आधार पर रचयिता के मूल पाठ तक पहुँचने के सिद्धान्तों का विवेचन रहता है। इस शास्त्र की सहायता से किसी रचना की उपलब्ध प्रतियों के द्वारा प्राचीनतम तथा मूल पाठ का निश्चय किया जाता है। मूल पाठ से तात्पर्य उस पाठ से है जो रचयिता को अभीष्ट था।

पोस्टगेट ने इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में पाठालोचन की परिभाषा देते हुए कहा है—

"पाठालोचन शब्द का प्रयोग पाठ-निर्धारण के लिए मानवीय बुद्धि द्वारा व्यव-

---

1. "The aim of the 'textual critic' may then be defined as the restoration of the text as for as possible to its 'original form', if by 'original form' we understand the form intended by the author."—Postgate : Encyclopaedia Britanica (Textual criticism)

स्थित तथा कौशलपूर्ण दिए गए बौद्धिक निर्णय के लिए होता है ।"[1]

यह ध्यान रखना चाहिए कि पाठालोचन के सिद्धान्त किसी विशेष ग्रन्थ के आधार पर अथवा किसी विशेष ग्रन्थ के लिए लागू हों ऐसा नहीं है । यह तो समस्त अध्ययन के पश्चात् प्राप्त सामान्य सिद्धान्त हैं ।

भारतवर्ष में तो प्राचीन ग्रन्थों का पाठालोचन कार्य बहुत देर में प्रारम्भ हुआ है और बहुत बाद में लोगों ने इसको महत्व को पहचाना, किंतु विदेशी विद्वानों ने पाठालोचन को बहुत पहले ही पर्याप्त महत्व दिया था, और पाठालोचन को आलोचना में निम्नतर आलोचना माना था क्योंकि ग्रन्थों के पाठ-संपादन के उपरांत ही उनका साहित्यालोचन प्रारम्भ होता है । पाठलोचन को उन्होंने साहित्यालोचन का आधार मानते हुए कहा था कि सबसे पहले यह आवश्यक है कि मूल पाठ में जो विकृतियाँ हो गई हैं उनको दूर किया जाए ।[2] 'निम्नतर' शब्द हीनता का द्योतक नहीं है ।

नाम की समस्या

अँग्रेजी में इस विषय के लिए Textual Criticism शब्द का व्यवहार होता है । हिन्दी में पाठालोचन शब्द का प्रवेश अंग्रेजी द्वारा ही हुआ है । सामान्यतः इसका अनुवाद करके ही रक्खा जाना चाहिए । यह अनुवाद कई प्रकार से किया गया है । श्री मूलराज जैन ने उक्त विषय से संबंधित एक पुस्तिका लिखी है जिसका शीर्षक 'सम्पादन-शास्त्र' दिया गया है । इस नाम को स्वीकार करने में कई कठिनाईयाँ हैं । सर्वप्रमुख कठिनाई यह है कि 'सम्पादन' शब्द दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र पत्रिकाओं के सम्पादन के लिए रूढ़ हो चुका है और इसलिए भय है कि सम्पादन-शास्त्र अंग्रेजी के जर्नलिज्म (Journalism) शब्द का पर्याय न समझ लिया जाए । इस प्रकार 'सम्पादन' शब्द ही भ्रामक है अतः पाठालोचन के लिए सम्पादन-शास्त्र, सम्पादन-विज्ञान, सम्पादन-कला आदि सभी नाम अनुपयुक्त हैं ।

प्रसिद्ध पाठालोचक डा० माता प्रसाद गुप्त ने इस शास्त्र के लिए तीन अन्य नाम प्रस्तुत किए हैं । प्रथम 'पाठ विज्ञान' है । ग्रंथों के पाठ से सम्बन्ध होने के कारण

---

1. "Textual criticism, a general term given to the skilled and methodical application of human judgement to the settlement of a text. By a 'text' is to be understood a document written in a language known more or less to the enquirer and assumed to have a meaning which has been or can be ascertained."

   —Postgate, Encyclopaedia Britanica

2. "Of criticism there are several branches. First the errors which have crept into the text must be detected and the text be restored, as for as possible to its original form ; this is the task of textual or lower criticism."

   —Postgate : Encyclopaedia Britanica (Textual Criticism)

यह शब्द विषय की ओर सीधा सीधा संकेत करता है। किन्तु इस नाम की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि पाठ के साथ ही विज्ञान का संयोग ठीक नहीं है क्योंकि यह विषय अभी तक विज्ञान की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका है। इतना ही नहीं अंग्रेजी के प्रसिद्ध पाठालोचक 'हाल' तो इसको विज्ञान मानने से स्पष्ट इन्कार करते हैं। डा० माता प्रसाद गुप्त ने दूसरा नाम 'पाठानुसन्धान' इस शास्त्र के लिए प्रस्तुत किया है। यह नाम भी पूर्णतया टेक्चुएल क्रिटिसिज्म की सीमा को स्पष्ट नहीं करता है। पाठालोचन का कार्य केवल मूलपाठ का अनुसन्धान करना ही नहीं है, वरन् अनुसन्धान किए गए मूल पाठ की आलोचना भी इसके क्षेत्र में आती हैं। कौन सा पाठ किसलिए स्वीकार किया गया ? पाठ में विभिन्न विकृतियाँ किस प्रकार आईं ? मूलपाठ कैसे इतना परिवर्तित हो गया ? आदि सभी प्रश्नों की व्याख्या और उनका समाधान पाठालोचन क्षेत्र के अन्तर्गत ही आता है। अतः 'पाठानुसन्धान' शब्द क्षेत्र की पूर्णतया परिधि बताने में असमर्थ होने के कारण त्याज्य है।

इस शास्त्र के लिए डा० गुप्त ने 'पाठालोचन' नाम भी प्रस्तुत किया है। यह नाम अंग्रेजी शब्द Textual Criticism का अक्षरशः अनुवाद है। यह नाम विषय के अनुसार तथा सभी प्रकार से उपयुक्त है। सीमा का ज्ञान भी इस नाम से हो जाता है कि मूलपाठ अनुसंधान के बाद खोजे हुए पाठ की आलोचना भी आवश्यक है। विषय की सुस्पष्टता के दृष्टिकोण से इसी नाम को स्वीकार किया जाना चाहिए यद्यपि यह नाम आज विशेष प्रचलित नहीं है।

विज्ञान अथवा शास्त्र

पाठालोचन-शास्त्र है अथवा विज्ञान यह प्रश्न अधिक विवादस्पद तो नहीं है किन्तु फिर भी विद्वानों का झुकाव इसे विज्ञान की कोटि में रखने की ओर अधिक है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें विज्ञान तथा शास्त्र के अन्तर को देखना होगा।

विज्ञान विशिष्ट ज्ञान है जिसमें विकल्प तथा विप्रतिपत्ति के लिये स्थान नहीं है। विज्ञान के तत्व सर्वत्र व्यापक होते हैं। पानी के विश्लेषण से सदैव ही और सभी जगह आक्सीजन तथा हाइड्रोजन की उत्पति होती है। इसी प्रकार भौतिक विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि सभी के नियम शाश्वत, सर्वव्यापी तथा देशकाल की सीमा से परे रहते हैं।

कला का ज्ञान विकलपात्मक तथा सीमित होता है। देशकाल की परिस्थितियों से वह बँधा रहता है। भारतीय संगीत एक विदेशी को उतना रुचिकर नहीं लगता जितना कि अपने देशवासी का। हमारे देश के सौन्दर्य के प्रतिमानों से दूसरे देश के सौन्दर्यमान भिन्न हैं। यही कला की विकल्पात्मकता है। कला का जो अंश मनुष्य मात्र पर प्रभाव डालता है वह विज्ञान का अंश है। कला का स्वकीय नहीं। कला के नियमों तथा सिद्धान्तों की विवेचना को शास्त्र कहते हैं।

विज्ञान का उद्देश्य शुद्ध ज्ञान है, कला का व्यवहार ज्ञान, उपयोगिता तथा मनोरंजन। पृथ्वी घूमती है, सूर्य का तापमान क्या है, आदि प्रश्नों का समाधान हमारी ज्ञान पिपासा को ही अधिक शान्त करता है। उसकी उपयोगिता बहुत कम रहती है।

इस कसौटी पर कसने से पाठालोचन को विज्ञान की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। देश काल के साथ-साथ इसकी समस्याओं तथा उनके समाधान के सिद्धान्तों में अन्तर आता है। यह सत्य है कि इसके कुछ सिद्धान्त सर्वव्यापी हैं कुछ देश काल की सीमा से युक्त भी हैं, किन्तु इनका अंश गौण है। पाठालोचक पुनरुद्धार करते समय निस्संग रहता है। वह निरंकुश होकर मनमाना पाठ ग्रहण और त्याग नहीं कर सकता है। पाठालोचक निश्चित नियमों से बद्ध रहता है इसलिए प्रत्येक पाठ-समस्या पर विचार करते समय पाठालोचक को विशिष्ट प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है और इस विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा निकले हुए निष्कर्षों को अनिवार्य रूप में उसे ग्रहण करना पड़ता है और पाठ का पुनरुद्धार उसे निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत ही करना पड़ता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक अन्वेषक से पाठालोचक बहुत मिलता जुलता है। निस्संगता दोनों के लिए ही आवश्यक है। वैज्ञानिक की ही भांति पाठालोचक अपनी धारणाओं मान्यताओं को तभी मान्य बना सकता है जब वे वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा सिद्ध और समर्थित हों। रुचि और अभिरुचि का स्थान विज्ञान और पाठालोचन दोनों में ही नहीं है। इस प्रकार निस्संगता की दृष्टि से एक वैज्ञानिक और पाठालोचक में पर्याप्त साम्य है किन्तु एक वैज्ञानिक के लिए जितनी निस्संगता की आवश्यकता होती है उतनी पाठालोचक के लिये नहीं। प्रतियों आदि के व्यवस्थित परीक्षण, वंशानुक्रमिक सम्बन्ध निरूपित करने में तो पाठालोचक को तटस्थता बरतनी पड़ती है किन्तु इस प्रक्रिया द्वारा जो निष्कर्ष निकलते हैं उन निष्कर्षों के आधार पर उसे व्यक्तिगत राय देनी पड़ती है; कभी-कभी तो पाठालोचक को अपने सिद्धान्तों में भी अपनी सम्पाद्य सामग्री के कारण आवश्यक हेर फेर करना पड़ता है। विज्ञान में यन्त्रों और प्रयोग से निष्कर्ष स्वयमेव निकलते हैं किन्तु पाठालोचन में ऐसा नहीं होता, उसे स्थान-स्थान पर अपना मन्तव्य देना पड़ता है और अपने मत की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित करने पड़ते हैं। यही कारण हैं कि पाठालोचक के निष्कर्ष बहुत दृढ़ नहीं होते। इस प्रकार निस्संगता की दृष्टि से भी पाठालोचन विज्ञान की अपेक्षा कला के ही अधिक निकट है।

पाठालोचन की क्रियात्मक पद्धति भी उसके निष्कर्षों के समान ही बहुत दृढ़ भी नहीं है। वैज्ञानिक कार्यशैलियाँ निश्चित हैं, और हर एक वैज्ञानिक अन्वेषक को इन्हीं विशिष्ट पद्धतियों का अनुसरण करना पड़ता है। किन्तु पाठालोचन के सिद्धान्तों में बराबर ही हेर-फेर संपाद्य सामग्री के अनुसार होती हैं। प्रत्येक पाठ-परम्परा की

समस्याएं भिन्न-भिन्न स्तरों पर हुआ करती हैं। रामचरित-मानस, सूरसागर, कबीर वाणी की समस्याएँ भिन्न-भिन्न स्तरों पर हैं। इसलिए प्रत्येक की पाठ-समस्या पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करना पड़ेगा; प्रत्येक की पाठ-समस्याओं के समाधान के लिए सिद्धान्तों में यथावश्यक हेर फेर करना पड़ेगा। इस दृष्टि से भी पाठालोचन विज्ञान की अपेक्षा कला के ही अधिक निकट है।

इस प्रकार अध्ययन, विवेचन, विश्लेषण आदि में पूर्णतया वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण करते हुए भी, पाठालोचक को अपनी सूझ-बूझ, प्रतिभा, व्यवहार कौशल और अनुभव ज्ञान का सहारा लेते हुये, स्थान-स्थान पर पाठ समस्या के समाधान के लिए अपना मत प्रस्तुत करते हुए, निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत पाठ का पुनरुद्धार करना पड़ता है। सम्पाद्य सामग्री के अनुसार वह स्वनिर्मित सिद्धान्तों में थोड़ा हेर फेर कर कवि के मूल पाठ तक पहुंचने का यत्न करता है। पाठ पुनरुद्धार की यह प्रक्रिया विज्ञान की अपेक्षा कला के ही अधिक निकट है इसलिए कला का अंश प्रमुख होने के कारण पाठालोचन को शास्त्र के ही अन्तर्गत रखना अधिक संगत तथा उचित है। इन्हीं सब विशेषताओं को ध्यान में रखते हुये 'हाल' ने पाठालोचन को विज्ञान की कोटि में रखने से स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा था—

"बहुत से लोग पाठालोचन को एक बीमारी समझते हैं। यथार्थ में यह न तो बीमारी है न विज्ञान। यह प्रतियों के साक्ष्य पर उठी हुई पाठ समस्याओं को बुद्धि के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न मात्र है।"[1]

पाठालोचन का आधार

पाठालोचन का आधार वह समस्त सामग्री है जिस पर हमें प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। यह सामग्री शिलालेख, ताम्रपत्र तथा मुख्य रूप से ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज आदि की हस्तलिखित प्रतियाँ हैं। भारत में अधिकांश साहित्य इन्हीं वस्तुओं पर उपलब्ध है। इनमें भी कागज की प्रतियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी का साहित्य तो प्रायः कागज पर ही लिपिबद्ध है किन्तु आज हमें कागज की बहुत प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ नहीं मिलतीं इसके कई कारण हैं—

(१) भारत की नम और गर्म जलवायु कागज की सुरक्षा के लिए हानिकारक है। इस जलवायु में कागज अधिक दिनों तक सुरक्षित नहीं रक्खा जा सकता। कागज सड़ गल जाता है और इसमें कीड़े लग जाते हैं। भारत के गर्म तथा सूखे स्थलों—राजस्थान आदि में अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन प्रतियाँ मिलती हैं।

1. "Many people tend to regard Textual Criticism as a disease, but it is neither a disease nor a science, but simply the application of common sense to a class of problems which beset all enquirers whose evidence rests upon the authority of manuscripts documents." —Hall : Companion to Classical Texts

(२) भारतवर्ष में कंठस्थ विद्या का ही विशेष मान रहा है।[1] वेद-उपनिषद ही नहीं वरन् वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरण आदि के ग्रंथ भी कंठस्थ किए जाते थे। शास्त्रार्थ द्वारा ही विद्वत्ता स्थापित होती थी और इसके लिए कंठस्थ विद्या आवश्यक थी। यही कारण है कि पुस्तकों को कंठस्थ कर लेने के पश्चात् इनके संरक्षण की ओर लोगों का विशेष ध्यान नहीं जाता था।

(३) लिखित पुस्तकों के जीर्ण होने पर अथवा उपयोगी न रहने पर उनको गंगा आदि नदियों में प्रवाहित करने की रीति रही हैं। इस प्रकार से अनेक प्राचीन प्रतियाँ तथा ग्रंथ लुप्त हो गये हैं।

(४) उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमण, राज्य विप्लव आदि के कारण पुस्तक संग्रह जला दिए गए और नष्ट कर दिए गए थे। इस कारण से भी अनेक प्राचीन ग्रंथ लुप्त हो गए हैं।

प्राचीन प्रतियों के न प्राप्त होने के इन अनेक कारणों के होते हुए भी यह न समझना चाहिए कि भारत में प्राचीन ग्रंथों के रखने की परंपरा ही नहीं थी। प्राचीन ग्रंथों में पुस्तकालयों का बराबर उल्लेख आया है जिन्हें सरस्वती भाण्डार गृह आदि की संज्ञा से संबोधित किया जाता था। महाकवि बाण का एक निजी पुस्तकालय था जिसकी पुस्तकें पढ़ने के लिए उसने नौकर रक्खे थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन साहित्य की लगातार प्रतिलिपियां करके उनको सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग को दान में लगभग ५००० पुस्तकें मिली थीं। प्राचीन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ ही पाठालोचन की आधारभूत सामग्री हैं और इन्हीं के साक्ष्य पर मूल पाठ का निर्माण करना पाठालोचन का कार्य है।

पाठालोचन के विभाग

पाठालोचन का विकास योरप में प्राचीन ग्रंथों के संपादन से हुआ है। इसके विकास की दो अवस्थाएँ रही हैं—

(क) **प्राचीन अवस्था**—प्राचीन अवस्था के अनुसार पाठालोचन के दो विभाग किए जाते थे—(i) पाठ निर्धारण (Recensio) (ii) पाठ सुधार (Emendatio)

(i) **पाठ-निर्धारण**—पाठ-निर्धारण का अर्थ प्रस्तुत ग्रंथ से संबन्धित उस समस्त सामग्री का संग्रह है, जिसकी सहायता से पाठ-निर्धारण हो सकता है; और उस सामग्री

---

१. पुस्तकप्रत्याधीतं नाधीतं गुरु सन्निधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जार गर्भ इवस्त्रियः॥
× + ×
हर्तुर्न गोचरं याति, दत्ता भवति विस्तृता।
कल्पान्तेऽपि न या नश्येत, किमन्यद्विद्यया समम्॥

के साक्ष्य पर प्राचीनतम पाठ (Archetype) का निर्माण करना है। इस प्रकार से इसके अंतर्गत प्रतियों का संग्रह, उनकी परीक्षा, उनका वंशवृक्ष-निर्माण और इस वंशवृक्ष के आधार पर प्राचीनतम पाठ का निर्माण आदि आते हैं।

(ii) **पाठ सुधार**—यह आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त प्रकार से निर्मित पाठ कवि का मूल पाठ हो। इस बात की संभावना है कि इस पाठ में भी भ्रष्ट पाठ आ गया हो। प्रतियों के साक्ष्य पर किंतु प्राप्त पाठ से आगे बढ़कर कवि के मूल पाठ तक पहुंचने के प्रयत्न को पाठ-सुधार कहते हैं। एक प्रकार से यह परंपरा तथा लिखित रूप से प्राप्त पाठ के आगे बढ़कर के कवि के पाठक को प्रस्तुत करने का प्रयत्न है।

भ्रष्ट पाठ तथा इससे संबंधित समस्याएं अधिकतर प्रतिलिपि, प्रक्षेप आदि की अशुद्धियों के कारण होती हैं, अतः पाठालोचन के लिए आवश्यक है कि इनको सुधारने के पूर्व वह समस्त पाठ परंपरा से परिचित हो ले अन्यथा इस बात का भय है कि वह ऐसी अशुद्धियों को भी आधुनिक विधियों से शुद्ध करने का प्रयत्न करने लगे जो कि मूल ग्रंथ की ही हों। इसी लिए यूरोपीय विद्वानों ने ग्रीक लैटिन ग्रंथों के पाठालोचन को चार विभागों में बाँटा है। यह नवीन अथवा आधुनिक अवस्था है।

(ख) **आधुनिक अवस्था**—पाठालोचन की शास्त्रीय तथा आजकल की मान्य विधि के अनुसार इसके चार विभाग हैं—

(i) संग्रह और वंशवृक्ष निर्माण—(Heuristics)
(ii) पाठ निर्माण- (Recensio)
(iii) पाठ सुधार—(Emendatio)
(iv) पाठ-विवेचन—(Higher Criticism)

इन विभागों का संक्षिप्त परिचय मात्र इस अध्याय में दिया जा रहा है। आगे चलकर विस्तार में इनका अध्ययन किया जाएगा।

(i) संग्रह और वंशवृक्ष निर्माण - (Heuristics) इसके अंतर्गत आलोच्य ग्रंथ से सम्बन्धित समस्त सामग्री को एकत्रित करना आता है। इसमें उस ग्रंथ की समस्त हस्तलिखित प्रतियाँ और सहायक सामग्री आती हैं। सामग्री-संग्रह के बाद सामग्री की अंतरंग तथा बहिरंग परीक्षा करके उसकी प्रामाणिकता और उसकी प्राचीनता के आधार पर उसका सापेक्षिक महत्व स्थिर किया जाता है। पाठालोचन के लिए प्रस्तुत प्रतियों की प्रामाणिकता की जाँच होना आवश्यक है अन्यथा संभव है कि रद्दी तथा अत्यधिक आधुनिक सामग्री पाठालोचन कार्य कठिन ही नहीं अपितु असंभव भी कर दें। इन परीक्षाओं में तिथि क्रम से प्रतियों का मूल्य आँका जाता है, क्योंकि प्राचीन प्रतियों के सम्बन्ध में सामान्यतः यह विचार उठता है कि वे अधिक

शुद्ध पाठ प्रस्तुत करती हैं । यह विचारधारा यद्यपि ठीक नहीं है किन्तु फिर भी इसमें यथेष्ट सत्य है । इसी विचारधारा के कारण भारतवर्ष के धार्मिक ग्रंथों की प्रतियों में यथेष्ट जाल किया गया है । उदाहरणार्थ अयोध्या में श्रावण कुन्ज में मानस के बालकांड की प्रति सुरक्षित हैं । इस प्रति का लिपिकाल बाद में बदलकर सं० १६६१ कर दिया गया । इस परिवर्तन के उपराँत इस प्रति के संबंध में यह प्रवाद चलाया गया कि यह प्रति कवि द्वारा संशोधित है । इसी प्रकार राजापुर में मानस के अयोध्याकाँड की एक अत्यंत प्रसिद्ध प्रति है । इस प्रति के संबंध में कहा जाता है कि यह गोस्वामी जी के हाथ की लिखी प्रति है । डा० माता प्रसाद गुप्त ने इस प्रति की अंतरंग परीक्षा करके इस अनुश्रुति को झूठा सिद्ध कर दिया है । इनके अतिरिक्त मानस के विभिन्न काँडों की १९वीं शताब्दी की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं जिनमें जाल कर उन्हें कवि के जीवनकाल का बनाने का प्रयत्न किया गया है । गणना तथा अन्य प्रकार की परीक्षाओं द्वारा प्रतियों की प्रमाणिकता की जाँच की जाती है । यह जाँच अत्यंत आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है ।

प्रतियों की परीक्षा के उपरांत उनके पाठों का मिलान किया जाता है । इस मिलान का उद्देश्य प्रतियों के परस्पर सम्बन्ध को निश्चित करना होता है, जिन्हें क्रमशः मुख्य तथा गौण सम्बन्ध कहा जाता है । प्रतियों में परस्पर सम्बन्धों को वंशवृक्ष रूप में प्रस्तुत करना ही इस विभाग का उद्देश्य है ।

(ii) पाठ-निर्माण (Recensio)

(प्रतियों के वंशवृक्ष निर्मित हो जाने के बाद प्रतियों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है, और यह मालूम हो जाता है कि कौन सी प्रतियाँ स्वतंत्र शाखा की हैं और कौन सी प्रतियां पाठ की दृष्टि से ऊपर की पीढ़ी में आती हैं ।) प्रतियों की इन स्थितियों के ज्ञान होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाठ-निर्माण में कौन-सी प्रति कितनी सहायक है । प्रतियों की इन स्थितियों तथा इनके सापेक्षिक महत्व को जान लेने के पश्चात् इनके आधार पर पाठ-निर्माण किया जाता है । यह पाठ-निर्माण कुछ नियमों के आधार पर होता है । संक्षेप में कुछ प्रमुख नियम निम्नलिखित हैं—

(क) समस्त स्वतन्त्र शाखाओं में प्राप्त पाठ मूल ग्रंथ का पाठ है ।

(ख) सामान्यतः स्वतन्त्र शाखाओं के बहुमत का पाठ मूल ग्रन्थ का पाठ है; अर्थात् प्रतियों की संख्या का बहुमत नहीं वरन् स्वतन्त्र शाखाओं के बहुमत का महत्व है । यह नियम बहुत कड़ाई से लागू नहीं किया जा सकता है । यदि सभी शाखाएँ समान रूप से विश्वसनीय हों तभी यह नियम पूर्णतः लागू होता है ।

(ग) यदि स्वतन्त्र शाखाओं की बराबर-बराबर संख्या की प्रतियाँ दो भिन्न-भिन्न पाठ देती हैं तो ऐसी स्थिति में मूल पाठ पूर्ण निश्चय के साथ नहीं जाना जा सकता । ऐसी स्थिति में :

(घ) अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य से अनुमोदित पाठ स्वीकार किया जाएगा।

(ङ) सामान्यतः वे पाठ स्वीकार किए जाएँगे जिनसे अन्य पाठों का विकास हुआ प्रमाणित हो सके।

(च) सामान्यतः प्रतिलिपिकारों की योग्यता को देखते हुए—कठिन तथा अप्रचलित पाठ मूल के निकटतर होता है।

(छ) यदि दो या अधिक पाठ, प्रसंग प्रयोग आदि की दृष्टि से ठीक प्रमाणित होते हैं तो शाखा की विश्वसनीयता के आधार पर अधिक विश्वसनीय शाखा का पाठ स्वीकार करना चाहिए। अन्त में

(ज) प्रत्येक पाठ की प्रामाणिकता को स्वतन्त्र रूप से जाँच करने के बाद ही स्वीकार करना चाहिए।

(iii) पाठ सुधार (Emendatio)

पाठ निर्माण द्वारा हम जिस पाठ तक पहुंचते हैं वह कवि का मूल पाठ हो यह आवश्यक नहीं है। यह संभव है कि इस पाठ में अब भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों। यहाँ पर पाठालोचक को इस प्राचीनतम पाठ के पूर्व के इतिहास में पैठ कर कवि के पाठ का अनुमान लगाना होगा। वह प्राचीनतम प्राप्त पाठ में सुधार कर कवि का पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगा।

पाठालोचन में पाठ सुधार सबसे महत्वपूर्ण तथा कठिन कार्य है। इस विषय को लेकर पाठालोचकों के दो वर्ग बन गए हैं—

(i) रूढ़िवादी वर्ग (Conservative School)

(ii) सुधारवादी वर्ग (Liberal School)

यदि दोनों वर्गों की अतिवादिता को छोड़ दिया जाए तो आजकल सामान्य रूप से सुधारवादी वर्ग को प्रमुखता मिली है। रूढ़िवादी वर्ग सुधार के पक्ष में नहीं है। वह प्राचीनतम पाठ को ही प्रस्तुत करना पाठालोचन की इति श्री मान लेता है। सुधारवादी वर्ग सुधार के पक्ष में है और इसे पाठालोचन का प्रमुख अंग मानता है। इस प्रमुख अन्तर के अतिरिक्त दोनों वर्गों में अन्य सूक्ष्म अन्तर भी है जिन पर आगे चलकर विचार किया जाएगा। आधुनिक पाठालोचकों के अनुसार सुधार पाठालोचन का महत्त्वपूर्ण अग है, किन्तु यह सुधार मनमाने ढंग से, बिना यथेष्ट साक्ष्य के न होना चाहिए। किसी भी सुधार को स्वीकार करने के पूर्व उनको निम्नलिखित दो साक्ष्यों से प्रमाणित होना चाहिए—

(i) अन्तर्साक्ष्य (Internal Probability)—जिसमें कवि के प्रयोग शैली आदि का अध्ययन आता है।

(ii) बहिर्साक्ष्य (Documental Probability)—जिसमें सहायक सामग्री, लिपि, लेखन सामग्री आदि का आधार लिया जाता है।

(iv) पाठ विवेचन (Higher Criticism)

यह पाठालोचन का अन्तिम अंग है। कत्रे के अनुसार इसमें कवि के ग्रन्थ के मूल स्रोतों का अध्ययन होता है।[1] डा० गुप्त ने इसे कवि की मूल प्रवृत्तियों का अध्ययन माना है। इसमें किसी ग्रंथ की विशेषताओं का अनुसंधान, कवि की भाषा, विचारधारा तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त उसकी विचार-शृंखला का अध्ययन रहता है। उदाहरण के लिए एक रचना है जिसमें कवि ने तिथि नहीं दी है। इस रचना की तिथि निर्धारित करना है। इसके लिए लेखक की समस्त रचनाओं का अध्ययन किया जाएगा, उसकी विचार शृंखला में वह रचना कहाँ पर बैठ सकती है, उसके शैली-विकास के अनुसार वह रचना कहाँ पर आएगी, उस रचना में उल्लिखित व्यक्ति, स्थान आदि कवि द्वारा लिखे जा सकते हैं अथवा नहीं, आदि बातों का ध्यान रखकर उस रचना की तिथि निश्चित करना तथा कवि की रचनाओं में उसका स्थान निर्धारित करना पाठ विवेचन के अन्तर्गत आता है।

जहाँ तक पाठालोचन के प्रथम तीन विभागों का संबंध है, वे सभी निश्चित रूप से पाठालोचन के अन्तर्गत आते हैं। मान लीजिए कि किसी कवि के नाम से कुछ आधुनिक प्रतियाँ ही मिलती हैं जिनके आधार पर उसका पाठ-निर्माण हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या यह पाठ उसी कवि का है? क्या यह पाठ प्रामाणिक कहा जा सकता है? यह समस्त प्रश्न पाठालोचन के संकुचित अर्थ लेने से उसके अन्तर्गत नहीं आएंगे, किन्तु यदि पाठालोचन का विस्तृत अर्थ लिया जाए तो यह समस्त प्रश्न पाठ-विवेचन वाले अंश के अन्तर्गत आ जाते हैं। पाठालोचन के संकुचित अर्थ के अनुसार पाठालोचन का उद्देश्य मूलादर्श तक ही पहुँचना है, इस बात की जांच नहीं कि यह पाठ अमुक कवि कृत है या नहीं। यह संकुचित अर्थ पाठ-सुधार को भी उसी स्थल तक स्वीकार करता है, जहाँ तक वे अंतर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य से प्रमाणित हों। इन प्रमाणों के अभाव में वह किसी छूटे अंश के पाठ को पूर्ण नहीं करेगा।

पाठालोचन की जिस परिभाषा को लेकर हम चले थे उसके अनुसार पाठ विवेचन इसका अंग नहीं माना जा सकता। यथार्थ में पाठ विवेचन का प्रारम्भ तो पाठालोचन के लक्ष्य पर पहुंचने के पश्चात् प्रारम्भ होता है। यह सत्य है कि पाठ विवेचन का आधार पाठालोचन है, परन्तु एक दूसरे की सीमा को छूते हुए भी दोनों का पृथक अस्तित्व है। जहाँ तक कवि के मूल पाठ तक पहुंचने में पाठ विवेचन सहायक हो सकता है, वहां तक यह पाठालोचन का अंग माना जा सकता है। जहाँ यह समालोचना मात्र रह जाता है तो यह पाठालोचन का अंग भी नहीं रहता। पाठालोचन के अन्तर्गत इसकी स्थिति चिंत्य है।

---

1. "Seperation of the sources utilized by the author."
—Katre : Introduction to Indian Textual Criticism.

सहायक शास्त्र

किसी ग्रन्थ का पाठालोचन करते समय पाठालोचक को अन्य शास्त्रों का भी सहारा लेना पड़ता है और बिना इन शास्त्रों की सहायता के सम्भव है पाठालोचक मूल पाठ-निर्माण करने में अनेक त्रुटियाँ कर जाये। इसलिए इन समस्त शास्त्रों को जो पाठालोचन में सहायता पहुँचाते हैं हम सहायक शास्त्र कहेंगे। अब संक्षेप में इन सहायक शास्त्रों के विषय में कहेंगे और यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि यह सहायक शास्त्र किस प्रकार पाठालोचन में मदद करते हैं। पाठालोचन के सहायक शास्त्र निम्न हैं—

(क) **भाषा विज्ञान और लिपिविज्ञान**—किसी ग्रन्थ के पाठालोचन के लिए, प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों की अशुद्धियों को पकड़ने की दृष्टि से भाषा विज्ञान और लिपिविज्ञान अत्यंत उपयोगी सिद्ध होते हैं। प्रायः प्रसिद्ध लेखकों के ग्रन्थों की प्रति-लिपियाँ विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में भी प्राप्त होती हैं, और इन प्रतिलिपियों के पाठों में प्रतिलिपिकार अपनी-अपनी भाषा के अनुसार परिवर्तन किया करते हैं। उदाहरण के लिए सूरदास,तुलसीदास,कबीरदास के पद तथा वाणियाँ विभिन्न भाषाओं में मिलती हैं। इन भाषाओं का भी कवि की रचनाओं पर प्रभाव पड़ता है यही कारण है कबीर आदि कवियों की वाणियों पर राजस्थानी प्रभाव, पंजाबी प्रभाव आदि मिलते हैं और यह निश्चित करना पाठालोचक के लिए कठिन हो जाता है कि कवि की रचना मूलतः किस भाषा में रही होगी। इसी प्रकार किसी किसी कवि की रचना में अत्यधुनिक शब्द प्रयुक्त मिलते हैं और कठिनाई उपस्थित हो जाती है कि क्या कवि ने इन शब्दों का प्रयोग किया होगा ? अतएव इस प्रकार की कठिताइयों के समाधान के लिए तथा मूलपाठ के अनुसन्धान के लिए आवश्यक है कि पाठालोचक को उस सम्पूर्ण प्रदेश की भाषा का उसके क्रमिक इतिहास का भली-भाँति ज्ञान हो, जिन-जिन प्रदेशों की भाषाओं में संपाद्य रचना की प्रतियाँ मिलती हैं।

इसी प्रकार लिपि ज्ञान भी पाठालोचक के लिए आवश्यक है। पाठालोचक को विभिन्न प्रदेशों की लिपियों का भी, जिन लिपियों में संपाद्य रचना की प्रतियाँ मिलती हैं, ज्ञान आवश्यक है। हस्तलिखित ग्रन्थों में अनेक पाठ विकृतियाँ लिपि जनित भ्रम के कारण या तो होती है या किसी अवैज्ञानिक लिपि में लिपि बद्ध होने के कारण होती है। कबीर के पाठों में तथा जायसीकृत पद्मावत के पाठों में लिपि सम्ब-न्धित पाठ विकृतियाँ बहुत मिलती हैं। उदाहरण के लिए कबीर की वाणियाँ अनेक लिपियों में लिपिबद्ध हुई हैं। गुरुमुखी लिपि में भी कबीर की वाणियाँ लिपि बद्ध हैं। गुरुमुखी लिपि में अव्याप्ति दोष है। नागरी लिपि की समस्त ध्वनियाँ उसमें व्यक्त नहीं हो सकती है अतः नागरी लिपि में लिखित प्रति को आदर्श बनाकर कबीर की वाणियों की गुरुमुखी लिपि में प्रतिलिपि करने से प्रतिलिपिकारों ने अनेक अशुद्धियों की हैं। जैसे गुरुमुखी लिपि में टा नहीं होता है अतः या के लिए सर्वत्र 'इअ' का प्रयोग

२०

हुआ है जैसे माया ∠ माइआ काया ∠ काइया । इसी प्रकार गुरुमुखी में मिलावट के अक्षर नहीं होते अतः जहाँ कहीं अर्द्ध अक्षरों की आवश्यकता थी वहाँ उन्हें पूर्ण रूप देकर पाठ विकृतियाँ हुई है । ऐसी लिपि जनित विकृतियों को दूर करने के लिए आवश्यकता है कि पाठालोचक को लिपि के गुण-दोषों, क्षमताओं अक्षमताओं का भलीभाँति ज्ञान हो । डा० पारसनाथ तिवारी ने कबीर की वाणियों में इस प्रकार की अशुद्धियों को लिपि ज्ञान के कारण ही पकड़ा है ।

इसी प्रकार बीसलदेव रास की प्रतियों में से कुछ प्रतियों में लिपिकार ने राजस्थानी लिपि से अपरिचित होने के कारण पाठ विकृति की है । जैसे इजियर ∠ इतियर; उमाहियउ ∠ उमाहियतु; ऊजलइ ∠ कुजलइ; चंद ∠ वंद आदि । डा० माता प्रसाद गुप्त ने इस प्रकार की लिपि जनित विकृतियों को राजस्थानी लिपि के ज्ञान स्वरूप ही पकड़ा है ।

इस प्रकार प्रत्येक लिपि में कुछ वर्णों में भ्रम होता है कुछ वर्ण पहले एक ही लिपि में किसी प्रकार लिखे जाते थे आज किसी प्रकार लिखे जाते हैं । इसलिए यदि हमें उस लिपि के पूर्व रूप का ज्ञान नहीं है तो बहुत सम्भव है कि हम पुरानी पोथियों को ठीक से पढ़ भी न पाएँ । इस प्रकार पाठालोचन में भाषा ज्ञान तथा लिपि दोनों ही विशेष सहायक होते हैं ।

(ख) लेखन सामग्री और उसका इतिहास—लेखन सामग्री के विषय में भी पाठालोचक का ज्ञान पर्याप्त होना चाहिए क्योंकि पाठालोचन में तो बहिर्साक्ष्य का मुख्य आधार ही लेखन सामग्री है । लेखन सामग्री के आधार पर ही पाठालोचक प्रतियों की प्राचीनता का सही-सही अनुमान लगाकर उनमें किए गए जाल को पकड़ता है । लेखन सामग्री के महत्व तथा विषय में विस्तार से 'लिपि और लेखन सामग्री के इतिहास' अध्याय में विवेचन किया गया है ।

(ग) ज्योतिष शास्त्र—ज्योतिष शास्त्र के ही आधार पर पाठालोचक प्रति की पुष्पिकाओं में दी हुई तिथियों तथा सन् संवतों के विषय में गणना करके यह बताता है कि प्रति में दी हुई तिथि में परवर्ती संशोधकों ने जाल तो नहीं किया है । प्रतियों में मुख्य रूप से तिथियों में ही जालकर उन्हें प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है । पाठालोचक इन तिथियों की गणना करके ही इनके जाल को पकड़ता है । यदि पाठालोचक ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सन्-संवत, वार, पक्ष, तिथि की गणना करना नहीं जानता, तो बहुत सम्भव है कि वह प्रतियों के जाल को पकड़ने में असमर्थ होने के कारण उन प्रतियों को प्राचीन समझ ले और इस आधार पर प्रतियों को अनुचित महत्व दे दे । डा० माताप्रसाद गुप्त ने गणना के आधार पर ही कई प्रतियों की अप्रमाणिकता सिद्ध की है । उदाहरण के लिए मानस की एक सं० १६६१ की प्रति है । इसकी पुष्पिका इस प्रकार है ।

॥ संवत् १६६१ बैसाख शुदि ६ बुधे ॥

डा० गुप्त ने तिथि की गणना के आधार पर ही यह सिद्ध किया है कि यह प्रति
अप्रमाणिक है और इसमें जाल किया गया है। इस पुष्पिका में दी हुई तिथि की गणना
कर डा० गुप्त ने बताया कि विगत संवत् की दृष्टि से संवत् १६६१ को मंगलपड़ता है
और वर्तमान संवत् की दृष्टि से संवत् १६६१ वैशाख शुदि को बुध पड़ता है। इस
प्रकार तिथि वर्तमान संवत् में ठीक उतरती है किन्तु विगत में नहीं। प्राचीन समय
में मध्यदेश भर में तिथियाँ विगत संवत् में ही दी जाती थीं, वर्तमान में नहीं और
चूंकि इसमें विगत संवत की दृष्टि से तिथि अशुद्ध आती है इसलिए यह प्रति निश्चित
ही जाली है। डा० गुप्त ने बताया है कि यह प्रति संवत १६६१ की थी किन्तु संशो-
धकों और प्रतिस्वामियों ने इसे कवि की जीवन काल की सिद्ध कर इसे मूलप्रति
का महत्व दिलाना चाहा है और इसी दृष्टि से इन्होंने तिथि में जाल किया है।
संवत १६६१ को लेकर तिथि गणना से वैसाख शुदि को बुधवार ही पड़ता है। इससे
डा० गुप्त के अनुमान की और भी पुष्टि होती है। इस प्रकार इस जाल को डा०
गुप्त ने गणना के आधार पर पकड़ा। यदि वे तिथि गणना करने में असमर्थ होते तो
सम्भव था कि वह प्रति के इस जाल को नहीं पकड़ पाते। इसी प्रकार मानस की
संवत् १७०२ और संवत् १६६४ की प्रति को डा० गुप्त ने सिद्ध किया है कि यह
क्रमशः संवत् १८०२ और संवत् १८६४ की प्रति हैं जिनमें जाल किया गया है और
लोगों को धोखा देने का यत्न किया गया है। इस प्रकार सिद्ध है कि तिथि गणना
पद्धति का ज्ञान भी पाठालोचक के लिए आवश्यक है।

इनके अतिरिक्त साहित्य शास्त्र, छन्दशास्त्र, इतिहास आदि भी मूल पाठ
निर्धारण में सहायता देते हैं इसलिए इन्हें भी सहायक शास्त्र कहा जा सकता है।

पाठालोचन का महत्व — मुद्रणकला के प्रादुर्भाव के बाद, आधुनिक ग्रन्थों के
सम्बन्ध में पाठालोचन का विशेष महत्व नहीं है, किन्तु इस कला के प्रचार के पूर्व ही
संसार की महान कृतियों की एक बड़ी राशि का निर्माण हो चुका था। ये कृतियाँ
हमें अपने मूल रूप में नहीं प्राप्त हैं। इनकी हस्तलिखित प्रतियों की कई पीढ़ियों
तक की प्रतियों के द्वारा ही हम इनसे परिचित हैं। हिन्दी में भी भक्ति तथा
रीतिकाल के शायद ही किसी कवि के ग्रन्थ उसकी हस्तलिपि के रूप में प्राप्त हों।
इस प्रकार से हमें जो प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हैं वे अपने शुद्ध रूप में नहीं प्राप्त हैं।
इन ग्रन्थों के मूल रूप को प्राप्त करने का वैज्ञानिक तरीका पाठालोचन है। इसी के
द्वारा हम रचयिता के ग्रंथ के असली रूप पाने में सफल हो सकते हैं।

प्राचीन ग्रंथों में बाद के छोटे मोटे रचयिता विभिन्न कारणों से अपनी रद्दी
रचनाएं जोड़ देते थे। धार्मिक ग्रन्थों में यह बहुत अधिक होता था जिसका प्रमुख
कारण किसी महान रचयिता को अपने संप्रदाय का सिद्ध करना रहता है। पाठा-
लोचन की सहायता से इस प्रकार से जुड़े प्रक्षिप्त अंशों को हटाकर रचियता की
यथार्थ विचारधारा का अध्ययन किया जा सकता है। इस अतिरिक्त तीन रचनाओं

के मिलने से मूल रचना का जो कलात्मक सौंदर्य नष्ट हो जाता है उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है। इन प्रक्षेपों के कारण कभी-कभी रचयिता की विचारधारा के सम्बन्ध में भ्रांतियां हो जाने की संभावना रहती है। उदाहरण के लिए जायसी कृत पद्मावत मे 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाले प्रक्षिप्त छन्द से समस्त रचना पर समोसोक्ति का आरोप किया जाता था। जायसी ने जब इस प्रयत्न से रचना ही नहीं की थी तो इस प्रयत्न का असफल होना निश्चित था। किन्तु इस प्रक्षिप्त छन्द के कारण इस असफलता का दोष जायसी पर ही थोपा जाने लगा। इस प्रकार से एक बड़ी भ्रांति उठ खड़ी हुई और रचयिता के प्रति अन्याय हुआ। इस भ्रांति का निराकरण पाठालोचन के द्वारा ही हो सकता है जैसा कि डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने किया है।

भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी पाठालोचन का पर्याप्त महत्व है। भाषा के विशेषतः बीते काल की भाषा के अध्ययन के लिए हमें उस काल के साहित्यिक ग्रंथों का सहारा लेना पड़ता है। प्राचीन कवियों के ग्रन्थों की जो प्रतियाँ हमें प्राप्त होती हैं वे मूल ग्रन्थ की अनेक प्रतिलिपियों के बाद की होती हैं। इस प्रकार से उनमें अशुद्धियाँ ही नहीं आती वरन् कवि की भाषा में भी यथेष्ट परिवर्तन हो जाता है। प्रतिलिपिकार जैसा कि वे प्रशिक्षित होते थे प्रतिलिपि करते समय रचयिता के ग्रन्थ में प्रयुक्त कठिन तथा अप्रचलित शब्दों को छोड़कर प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर देते थे। वे सामान्यतः अपने समय की भाषा के निकट रचयिता की भाषा को लाने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार से रचयिता के नाम से प्राप्त भाषा यथार्थ में उसकी भाषा, उसके काल की भाषा नहीं होती थी। इस भाषा के आधार पर किया गया अध्ययन स्वयंमेव अशुद्ध होगा। पाठालोचन के द्वारा हम रचयिता की भाषा का उद्धार कर सकते हैं। इसी भाषा के आधार पर आधारित अध्ययन ही उस समय की भाषा का सही अध्ययन हो सकता है।

पाठालोचन रचयिता की कृति को यथार्थ रूप में जानने, उसकी सच्ची आलोचना तथा मूल्यांकन में, उसके सम्बन्ध में प्रचलित भ्रांतियों को दूर करने में, तथा तत्कालीन भाषा के अध्ययन में सहायक है।

: २ :

सामग्री और उसकी परीक्षा

पाठालोचन का प्रथम चरण सामग्री संकलन और तदुपरान्त उसकी परीक्षा करना है, क्योंकि सामग्री के अभाव में पाठालोचक पंगु हो जाता है और पाठ-संपादन उसके लिए असम्भव होता है। इस दृष्टि से पाठलोचन में सामग्री संकलन तथा उसकी अंतरंग बहिरंग परीक्षा का महत्व सबसे अधिक है।

पाठालोचन की परिधि में शिलालेख स्तम्भलेख, ताम्र पत्र-लेख तथा प्राचीन ग्रन्थ की प्रतियाँ आदि सभी आती है। सब में पाठालोचन की स्थिति आ सकती है, किन्तु हम यहां पाठालोचन का अर्थ इतनी व्यापक परिधि में नहीं ले रहे है। यहां हम पाठालोचन का प्रयोग केवल किसी ग्रन्थ की प्राप्त प्रतियों, जिनमें मूल का पाठ विकृत हो गया है, मूलेतर सामग्री का समावेश हो गया है, के आधार पर ग्रन्थ के मूल पाठ के अनुसन्धान से कर रहे हैं। इसलिए यहाँ सामग्री से हमारा तात्पर्य केवल उसी सामग्री से है जो प्रति रूप में या पुस्तक रूप में लिखित मिलती हैं, जिसमें सम्पादनीय ग्रन्थ का पाठ सुरक्षित है, या जो सामग्री, जिस ग्रन्थ का हम सम्पादन कर रहे हैं, उसमें सहायता पहुंचाती है।

इस प्रकार पाठालोचन की सामग्री के हम दो वर्ग बना सकते हैं—

१. रचना की प्रतियों के रूप में पाई जाने वाली सामग्री। चूंकि पाठालोचन में मुख्य रूप से इन्हीं प्रतियों के रूप में पाई जाने वाली सामग्री से कार्य पड़ता है और आवश्यकता की दृष्टि से इनका महत्व प्रधान है। इसलिए इसे मुख्य सामग्री या प्रधान सामग्री भी कहा जा सकता है।

२. प्रतियों से इतर रूप में पाई जाने वाली सामग्री। इस वर्ग के अन्तर्गत टीकाओं, अनुवादों, संकलनों, उदाहरण ग्रन्थों आदि के रूप में पायी जाने वाली सामग्री आती है। चूंकि यह सामग्री किसी ग्रन्थ के सम्पादन में मुख्य सामग्री की तुलना में अपेक्षाकृत कम महत्व रखती है इसलिए इसे गौण सामग्री या सहायक सामग्री (Testimonia) भी कहा जाता है।

सर्वप्रथम हम मुख्य सामग्री अर्थात् रचना की प्रतियों के रूप में पाई जाने वाली सामग्री के विषय में विचार करेंगे। इससे पहले कि हम सामग्री का वर्गीकरण और विवेचन करें, आवश्यक है कि हम प्रति का अर्थ जानें क्योंकि पाठालोचन की सामग्री अधिकतर प्रति रूप में ही हमारे समक्ष आती है।

प्रति का अर्थ—कोई ग्रन्थ जब हमें कागजों, भूर्जपत्रों अथवा ताड़पत्रों पर लिखा हुआ मिलता है तो उन कागजों या पत्रों की समष्टि कोप्रति की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार एक हीं ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ हो सकती हैं। यह प्रति का साधारण अर्थ है। प्रति का एक विशेष अर्थ भी होता है जिसे हम 'पाठ' कह सकते हैं। अंग्रेजी में दोनों के लिए एक ही शब्द 'टेक्स्ट' (Text) का व्यवहार होता है। पाठ का अर्थ किसी ग्रंथ की लिपि तथा लेखन सामग्री में सुरक्षित विचार राशि से है। एक ही ग्रन्थ की जिस प्रकार अनेक प्रतियां हो सकती हैं, उसके अनेक पाठ भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए एक मुद्रित ग्रन्थ ले लें। इसकी एक साथ मुद्रित हुई हजारों प्रतियां हो सकती हैं जिनके पाठ में कुछ भी अन्तर न हो। यह मशीन द्वारा होने से ही सम्भव है। इसके विपरीत यदि एक ग्रन्थ की कई हस्तलिखित प्रतियां हों तो उनके पाठ में मुद्रित प्रतियों के समान पाठ समानता होना आवश्यक नहीं है। यथार्थ में उनमें पूर्णतः शत प्रतिशत पाठ समानता सम्भव ही नहीं है। यह सम्भव है कि यह विभिन्न हस्तलिखित प्रतियाँ एक ही ग्रन्थ की होते हुए भी विभिन्न आदर्शों के द्वारा मूल ग्रन्थ से सम्बन्धित हों। ऐसी स्थिति में एक ही ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ भिन्न-भिन्न पाठ दे सकती हैं। प्रस्तुत पुस्तक में 'प्रति' का दोनों अर्थों—सामान्य तथा विशेष में प्रयोग हुआ है।

प्रतियों (पाठों) के विभिन्न रूप—प्रतियों के प्रमुख रूप से चार वर्गीकरण हो सकते हैं—

(१) कवि या लेखक की दृष्टि से

(२) प्रतिलिपि की दृष्टि से

(३) प्रति की सुलभता की दृष्टि से

(४) पाठ-मिश्रण की दृष्टि से

१—प्रतियों का सर्वप्रमुख विभाजन कवि या लेखक की दृष्टि से किया जाता है। इस दृष्टि से प्रतियों के स्थूल रूप में दो भेद होते हैं।

(क) मूल प्रति (Autograph)

(ख) प्रतिलिपित प्रति (Transmitted text)

इन दो प्रमुख भेदों के अवांतर भेद भी हैं।

(क) **मूल प्रति**[2] (Autograph)—इसे कवि लिखित स्वलिखित आत्मलिखित

1. "By a text we understand a document written in a language known more or less, to the inquirer, and assumed to have a meaning which has been or can be ascertained."
—Postgate : Encyclopaedia Britanica, Textual Criticism
2. "Autograph the original copy of a text as written by the author himself or its revision by the author in his own hand."
—Katre : Introduction to Indian Textual Criticism, p. 91

स्व हस्तलिखित प्रति आदि भी कहते हैं। अंग्रेजी में ऑटोग्राफ (Autograph) का प्रयोग स्वहस्तलिखित प्रति (Auto) स्व; (graph—लिखित) के लिए होता है अतः यदि कोई ऐसी प्रति प्राप्त है जो कि लेखक के हाथ की लिखी है तो वह स्वहस्त-लिखित प्रति कहलाएँगी। मूल प्रति के निम्न उपभेद हो सकते हैं—

(i) कविलिखित

(i) **प्रथम प्रति** (First Draft)—यह वह प्रति है जिसे कवि सबसे पहले लिखता है तथा बाद में इसमें संशोधन परिवर्तन, परिवर्धन करके ग्रन्थ के अन्तिम रूप का निर्माण करता है। प्रथम प्रति का पाठालोचन तथा समालोचना दोनों ही में विशेष महत्त्व होता है। इसके द्वारा हम कवि की रचना-शैली, साहित्यिक तथा भाषा सम्बन्धी प्रवृत्तियों तथा ग्रन्थ रचना के आरम्भ से उसके अन्तिम रूप देने के समय तक उसकी मनोवृत्ति को जान सकते हैं किन्तु यह प्रति साधारणतया प्राप्त नहीं होती है। मध्य युग के किसी भी कवि की प्रथम प्रति आज प्राप्त नहीं है। राजापुर में मानस के अयोध्याकांड की एक प्रति है जिसे तुलसीदास की प्रथम प्रति कहा जाता था। किन्तु इस प्रति में संशोधन एक भी नहीं है, यह अत्यन्त सुलिखित है तथा इसमें कुछ ऐसी विशिष्ट अशुद्धियाँ हैं जो प्रथम प्रति में नहीं हो सकती हैं जिससे इसके प्रथम प्रति होने में संदेह होता है।

(आ) संशोधित प्रति (Transmitted Text)—प्रथम प्रति में संशोधन परिवर्तन तथा परिवर्धन करके रचयिता उसे सुलिखित तथा पूर्ण रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। यह प्रति 'संशोधित प्रति' कहलाती है। इसी संशोधित रूप को ही ग्रन्थ का आदर्श तथा यथार्थ रूप मानना चाहिए। यह संशोधन अनेक बार हो सकता है। आधुनिक काल के मुद्रित ग्रन्थों के विभिन्न संस्करणों में भी यह संशोधन हुआ है। उदाहरणार्थ 'अजातशत्रु', 'आँसू', 'कल्याणी परिणय' तथा अन्य अनेक ग्रंथों के विभिन्न संस्करणों में संशोधन करके उनमें परिवर्तन किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में 'मालती माधव' तथा 'महावीर चरित' के संबंध में भी विद्वानों का मत है कि रचयिता ने उनके पाठ में एक से अधिक बार संशोधन किया। फलस्वरूप उनके पाठ की कई परम्पराएं चलीं। हिन्दी में इसका सबसे सुन्दर उदाहरण 'मानस' की पाठ परम्परा में मिलता हैं। 'मानस' के निर्माण के बाद लगभग ४० वर्ष तक कवि जीवित रहा हैं, और उसके पाठ में बराबर परिवर्तन और संशोधन करता रहा। यह परिवर्तन और संशोधन कम से कम चार बार अवश्य हुआ है जिसके कारण मानस के पाठ की चार स्थितियाँ मिलती हैं। इन परिवर्तनों को इस प्रकार दिखा सकते हैं—

मानस की प्रथम प्रति

कविलिखित पूर्ण रूप में प्रकाशित प्रति

प्रथम संशोधन के बाद की प्रति। इस परम्परा में

१७२१-१७६२ की प्रतियाँ हैं।

द्वितीय संशोधन। मिर्जापुर परम्परा की प्रतियाँ
तृतीय संशोधन। कोदवराम की प्रतियाँ
चतुर्थ संशोधन। १६६१-१७०४ की प्रतियाँ

चित्र—१

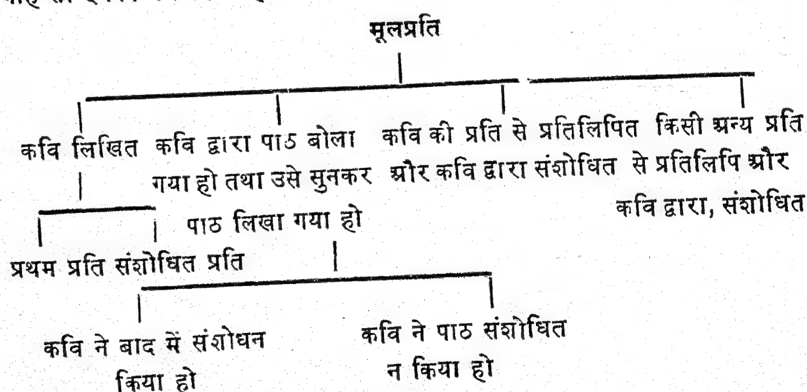
उपर्युक्त संशोधन कविकृत हैं। इसलिए ये प्रतियाँ कविलिखित संशोधित प्रतियाँ कहलाएँगी।

(ii) **कवि द्वारा बोली प्रति**—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कवि अपने हाथ से नहीं लिखता है। वह अपनी रचना बोलता है और प्रतिलिपिकार उसे सुनकर लिखता जाता है। इस प्रकार की प्रति भी मूल प्रति कहलाती है और इसके दो भेद हैं—(अ) जिस प्रति में कवि ने बोलने के बाद पाठ में संशोधन हो (ब) जिस प्रति में कवि ने बोलने के बाद संशोधन न किया हो। दोनों ही मूल प्रतियाँ हैं किन्तु इनमें प्रथम प्रति का महत्त्व दूसरे की अपेक्षा अधिक है।

(iii) **कवि प्रति से लिखित और कवि द्वारा संशोधित**—यदि कवि की प्रति से प्रतिलिपिकार प्रतिलिपि करे और बाद में स्वयं देखकर उसकी प्रामाणिकता स्वीकार कर ले तो यह भी मूल प्रति ही मानी जाएगी।

(iv) **अन्य किसी प्रति से लिखित और कवि द्वारा संशोधित**—यदि प्रतिलिपि किसी ऐसी प्रति को आदर्श मानकर की गई है जो लेखक की नहीं है किन्तु बाद में प्रतिलिपि को देखकर तथा उसकी अशुद्धियों को दूर कर कवि ने इसके पाठ की प्रामाणिकता स्वीकार कर ली है तो यह प्रति भी मूल प्रति कहलाएगी।

मूल प्रतियों के इन समस्त उपर्युक्त भेदों को यदि रेखाचित्र द्वारा दिखलाना चाहें तो इनका रूप निम्न होगा—



चित्र—२

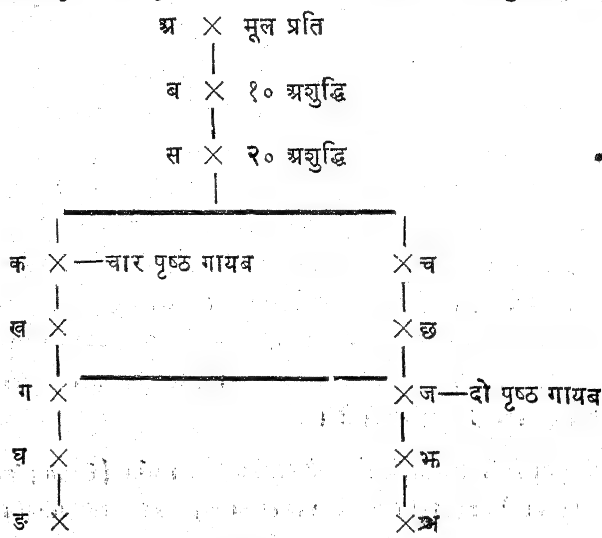
इस प्रकार जिस प्रति को कवि ने स्वयं लिखा हो, बोला हो, सुनकर या देखकर संशोधित किया हो वह मूल प्रति (Autograph) कहलाएगी।

(ख) प्रतिलिपित प्रति (Transmitted Text)

किसी भी प्रति से उतारी गई प्रति प्रतिलिपित प्रति कहलाती है। यह कविकृत अथवा उसके द्वारा संशोधित नहीं होती है अन्यथा यह मूल प्रति हो जाती है। यह प्रतिलिपि मूल से कितने ही नीचे की स्थिति की हो सकती है। मूल से यह कितनी ही दूर होगी। उतनी ही इसमें अधिक अशुद्धियों की संभावना होगी। प्रतिलिपि की अशुद्धियाँ पाठ में आना अत्यन्त स्वाभाविक हैं क्योंकि प्रतिलिपियाँ मनुष्यों द्वारा की गई होती हैं, और मनुष्य मशीन नहीं होता है। इन पाठ-विकृतियों पर विस्तृत प्रकाश पाठ विकृतियों वाले अध्याय में डाला जायगा। पाठ-विकृति में पाठ-वृद्धि तथा पाठ-ह्रास दोनों ही हो सकता है किन्तु प्रतिलिपियों में पाठ ह्रास से अधिक पाठ वृद्धि ही मिलती है, क्योंकि प्रतिलिपिकार अधिकतर यही चाहते हैं कि उनकी प्रतिलिपि अधिक से अधिक पूर्ण हो। इसलिए आदर्श प्रति का पाठ उतारने के साथ ही साथ वे अन्य प्रति के अतिरिक्त पाठों को भी अपनी प्रति में समाविष्ट करते जाते हैं। जहाँ उन्हें कोई अच्छा पाठ मिला उसे वे स्वतन्त्रता तथा प्रसन्नता से अपनी प्रति में उतार लेते हैं जिससे पाठ वृद्धि होती है।

पाठ ह्रास ऐसी स्थिति में होता है जबकि आदर्श प्रति (Exemplar) के कुछ पन्ने गायब हो जाते हैं अथवा जब प्रतिलिपिकार जानबूझकर पाठ संक्षिप्त कर देता है। इस प्रकार पाठ ह्रास दो रूपों में हो सकता है। (१) निश्चेष्ट रूप से (२) सचेष्ट रूप से। निसचेष्ट रूप से पाठ-ह्रास तभी होता है जब या तो आदर्श प्रति (Exemplar) जिससे प्रतिलिपि की जा रही है उसमें ही कुछ पन्ने गायब हो गये हों, छन्द गायब हो गए हों, अथवा दीमक लग जाने, कागज फटजाने आदि से पाठ अस्पष्ट हो गया हो और प्रतिलिपिकार उसे पढ़ न सकने के कारण छोड़ गया हो। इससे पाठ-ह्रास की स्थिति हो सकती है। अधिकतर लिपिकार जान बूझकर ग्रंथ का कोई अंश नहीं छोड़ते। सचेष्ट पाठ-विकृति के अन्तर्गत प्रक्षिप्त अंशों का लाना तो होता ही है पर साथ ही साथ पाठ ह्रास भी हो सकता है। उदाहरण के लिए कोई बहुत बड़ा ग्रंथ है यह सम्भव नहीं कि कोई इतनी बड़ी पोथी खरीदेगा अतः इसमें पाठ संक्षिप्त कर दिया जाता है। जिस प्रकार आज विभिन्न कवियों और लेखकों की रचनाओं के सेलेक्शन्स निकल रहे हैं, इसी प्रकार उनकी स्थिति हो जाती है। यह भी सम्भव है कि लिपिकार जानबूझ कर कुछ अंश छोड़ दे यह सोचकर कि इसका कोई मिलान तो करने जा नहीं रहा है कि इसमें कितना अंश छोड़ दिया गया है। अब यदि प्रतिलिपिकार ने इस बात का अपनी पोथी में संकेत नहीं किया है कि उसने संक्षिप्तीकरण की पद्धति अपनाई है तो बहुत संभावना है कि लोग इस संक्षिप्त पाठ को मूल मान लें और इसमें छोड़े गये पाठ को जोकि संपूर्ण प्रतियों में प्राप्त है— क्षेपक मान लें। इस प्रकार से पाठ-विकृति की बहुत सम्भावना है, यद्यपि ऐसा हुआ बहुत कम है। अधिकतर सचेष्ट रूप से पाठवृद्धि ही अधिक हुई है।

यह कठिनाई तो अत्यंत साधारण है। अक्सर हुआ यह है कि विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में आदान प्रदान हुआ है। मान लीजिए कि नीचे दिये हुए कोष्टक में एक प्रति का वंशवृक्ष दिया हुआ है जिसमें विभिन्न स्थानों पर अशुद्धि हैं।



चित्र ३

इसमें मूल प्रति अ है। इसकी एक प्रति ब है जिसमें १० अशुद्धियाँ हैं। इस ब की प्रति स है जिसमें २० अशुद्धियाँ हैं। इस स्थान पर प्रतियों की दो दिशाएँ हो जाती हैं। एक शाखा की प्रतियाँ क ख ग घ ङ तथा दूसरी शाखा की प्रतियां च छ ज झ ञ हैं। प्रत्येक प्रति अपने ऊपर वाली प्रति की प्रतिलिपि है। प्रति क के चार पन्ने खो गये। अतः यह चार पन्ने इसकी अन्य प्रतिलिपियों ख ग घ ङ में नहीं हैं। दूसरी शाखा में च छ प्रतियाँ पूर्ण हैं पर प्रति ज के दो पन्ने खो गये हैं और यह पन्ने आगे की प्रति झ और ञ में नहीं हैं। अब ऐसी स्थिति है कि पहली शाखा का दूसरी शाखा की प्रति च छ से उद्धार हो सकता है, पर यह शंका भी साथ ही उठेगी कि कहीं दूसरी शाखा के यह अधिक छन्द प्रक्षिप्त तो नहीं है। इसका निर्णय अन्य प्रकार से हो सकता है पर यह कठिनाई उठ सकती है।

अब मान लीजिये कि कोई लिपिकार दोनों शाखाओं का पाठ लेकर एक अन्य पाठ बनाता है। यदि लिपिकार का ध्येय प्रति को अधिक से अधिक पूर्ण बनाना है तो वह इसमें सफल हो जाएगा। इस प्रकार से शाखाओं का आदान-प्रदान हिन्दी ग्रंथों में बहुत हुआ है। किन्तु यदि यह प्रति उस स्थान पर बनी है जिस स्थान पर स का निर्माण हुआ है तो इसके निर्माण में कठिनाई कम होगी क्योंकि पत्र-संख्या के द्वारा यह शुद्ध की जा सकती है। मान लीजिये कि यह आदान प्रदान कुछ पीढ़ियों



बाद हुआ है और इस प्रति से य का निर्माण हुआ है। अतः यहां पर विशेष कठिनाई का भय है, क्योंकि प्रतिलिपिकार अधिकतर यह नहीं लिखते हैं कि पाठ इन्होंने जिस प्रति से उतारा है वह खण्डित थी या नहीं। यदि खण्डित थी तो किस स्थान पर। आदि। इतना ही नहीं प्रतिलिपिकार अधूरे छन्द आदि को छोड़कर अपनी प्रतिलिपि में नवीन छन्द संख्या आदि भी दे देते हैं। ऐसी स्थिति में य प्रति के लिपि प्रश्न उठेगा कि पहली शाखा के चार पन्नों के छन्दों (मान लीजिये आठ) अथवा दूसरी शाखा के दो पन्नों के छन्द (मान लीजिये चार) प्रक्षिप्त हैं, अथवा दोनों शाखा में प्राप्त यह बारह छन्द सभी प्रक्षिप्त हैं, अथवा इन छन्दों में से कोई छन्द प्रक्षिप्त नहीं है। इस प्रकार प्रतिलिपियों में उतनी ही अधिक जटिलताएं और अशुद्धियां बढ़ती जाती हैं जितनी वे मूल से दूर होती हैं और जितनी ही वे दूसरी शाखाओं से मिलती हों यह जटिलता तो साधारण है। यदि अन्य प्रकार की अशुद्धियों का ध्यान रक्खें तो जटिलता बराबर बढ़ती जाती है : उदाहरणार्थ जायसी के दोहों के चार रूप प्राप्त हैं। (१) एक चरण में मात्रा कम (२) दूसरे चरण में मात्रा अधिक (३) दोनों चरणों में मात्रा कम या अधिक (४) मात्रा शुद्ध। जायसी कृत पद्मावत की प्रतियों में कहीं दोहे का आदर्श रूप प्राप्त है, कहीं विकृत रूप। अतः कवि कृत मूल पाठ-निर्धारण कठिन हो जाता है। इस मूल पाठ-निर्धारण के कई सिद्धान्त हैं जिसका आगे विवेचन किया जाएगा।

प्रतियों का उपर्युक्त वर्गीकरण कवि की दृष्टि से हुआ। दूसरा वर्गीकरण प्रतिलिपि की दृष्टि से होता है।

(२) प्रतिलिपि की दृष्टि से प्रति का वर्गीकरण

प्रतिलिपि की दृष्टि से प्रतियों के दो भेद हो सकते हैं—

(क) आदर्श (Exemplar)

(ख) प्रतिलिपि (Copy)

जिस प्रति को सामने रखकर कोई प्रतिलिपि की जाती है उस प्रति को आदर्श प्रति[1] (Exemplar) कहते हैं और इसी प्रकार से जो प्रति बनती है वह प्रतिलिपि (Copy) कहलाती है। उदाहरणस्वरूप यदि क प्रति से एक प्रति ख बनाई गई तो क प्रति ख प्रति की आदर्श तथा ख प्रति क की प्रतिलिपि कहलाएगी।

यह आदर्श प्रति मूल प्रति (Autograph) अथवा कोई अन्य प्रतिलिपि भी हो सकती है। आदर्श के लिए आवश्यक नहीं है कि वह मूल प्रति ही हो। उपर्युक्त आदर्श में क चाहे मूल प्रति हो अथवा मूल प्रति न हो फिर भी वह ख प्रति

1. "Exmplar—as codex which forms a 'copy' for further transcription, a model or original source from which transcripts are directly made."

—Katre : Introduction to Indian Textual Criticism, p. 93

का आदर्श कहलाएगी। अब यदि ख प्रति से एक अन्य प्रतिलिपि ग तैयार की जाए तो इस ग का आदर्श ख प्रति होगी।

यदि आदर्श, कवि लिखित प्रति है तो वह स्वयं ही अत्यन्त महत्वपूर्ण होगी और साथ ही साथ उसकी प्रतिलिपि भी बहुत महत्वपूर्ण होगी। उदाहरणार्थ सं० १६५५ की रामाज्ञा प्रश्न की प्रति है। यह मूल प्रति (Auto graph) है। किन्तु आज यह प्रति प्राप्त नहीं है। इसकी प्रतिलिपि वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुई थी। अतः इस वेंकटेम्वर प्रेस की प्रतिलिपि का आदर्श रामाज्ञा प्रश्न की मूल प्रति थी अतः वेंकटेश्वर प्रेस वाली प्रति का महत्व विशिष्ट है। संभव है कि इस प्रकार की अन्य प्रतियाँ भी हों पर प्रतिलिपिकार इनकी सूचना बहुत कम देते हैं। अतः हम यह निश्चित रूपेण नहीं कह सकते कि आदर्श मूल प्रति के कितने पास का है पाठालोचन का मुख्य सिद्धान्त है कि प्रतिलिपि कभी आदर्श के बराबर की नहीं होगी। अतः आदर्श की समस्त अशुद्धियों का प्रतिलिपि (Copy) में आ जाना नितान्त स्वाभाविक है। यदि प्रतिलिपिकार स्वयं संशोधन करता है तो अशुद्धियाँ बढ़ने की ही अधिक सम्भावना है, और यदि ऐसी लिपि भी हुई जिसमें शोशे-नुक्ते होते हैं तब तो अशुद्धियों की और अधिक सम्भावना हो जाती है। उर्दू जब घसीट में लिखी जाती है तो उसमें शोशे नुक्ते नहीं लगाये जाते अतः कुछ का कुछ बहुत आसानी से पढ़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ नबी। यदि नुक्ते नहीं तो इसे नबी, बनी, तकी आदि पढ़ा जा सकता है। इसी प्रकार जायसी कृत पद्मावत में एक स्थान पर समुद्र मंथन के लिए महतारंभ शब्द आया है। इस महतारंभ को विभिन्न लिपिकारों ने विभिन्न रूप में महारंभ महाअरंभ तथा कहीं-कहीं महानारंभ तक कह दिया है। एक अन्य उदाहरण लीजिए। पद्मावत में एक जगह नागमती कहती है— भलेहि सो और पियारी नाहां

अब इसको संपादकों ने ठीक से न समझ कर इस प्रकार बदल दिया— "दुलहु सुआ पियारे नाहां।" इस प्रकार प्रतिलिकिारों ने सुआ को ही नाह बना दिया। इस प्रकार की अशुद्धियाँ प्रतिलिपि की हैं और उर्दू में इनकी सम्भावना बहुत अधिक है।

प्रतिलिपि कभी अपने आदर्श की बराबरी नहीं कर सकती है यह ऊपर कहा कहा जा चुका है। प्रतिलिपि तभी आदर्श के बराबर होगी जबकि उसका लेखक सावधान भाषा का पंडित तथा सतर्क हो प्रतिलिपि में आदर्श की समस्त अशुद्धियों को उतार ले। एक अन्य स्थिति में भी यह सम्भव है जब कि प्रतिलिपिकार मूर्ख मशीन और की भाँति काम करने वाला तथा मक्षिका स्थाने मक्षिका रखने वाला हो।

(३) सुलभता की दृष्टि से प्रतियों का वर्गीकरण

प्रतियों के प्राप्त होने अथवा न होने के आधार भी प्रतियों का वर्गीकरण होता है इस दृष्टि से प्रतियों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं—

(१) प्राप्त प्रति (विद्यमान प्रति Extan tmss)

(२) अप्राप्त प्रति (अविद्यमान प्रति Non Extant mss)

(१) **प्राप्त प्रति**—प्राप्त प्रति वह है जो कि हमें प्राप्त हो और जिसका संपादन में साधारणतः उपयोग किया जाता है।

(२) **अप्राप्त प्रति**—अप्राप्त प्रति वह है जिसके होने की हमें सूचना प्राप्त हो, अथवा बाह्य परिस्थितियों के द्वारा हम इस स्थिति पर पहुंचते हों कि उस प्रति का होना अनुमान करना पड़े, किन्तु जो यथार्थतः प्राप्त न हो। उदाहरणार्थ रामाज्ञा प्रश्न की मूल प्रति के होने की सम्भावना हमें प्राप्त है किन्तु वह प्रति हमें प्राप्त नहीं है, अतः यह अप्राप्त प्रति (Non Extant mss) कहलाएगी। इस प्रकार के सभी ग्रन्थों को जिनकी मूल प्रति हमें प्राप्त नहीं है, अविद्यमान या अप्राप्त कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार का उदाहरण जायसीकृत पद्मावत के सम्पादन में प्राप्त है। समस्त प्रतियों के पाठ के आधार पर हम कुछ विशेष अशुद्धियों तक पहुँचते हैं जो कि समस्त प्रतिलिपियों में प्राप्त है। हमें यह पता है कि मूल प्रति के समय में एक अक्षर एक विशेष ढंग से लिखा जाता था जो भ्रम से कुछ और पढ लिया गया जैसे ब=व=ब के कारण **अनबन<अनवन; अनबानी<अनवानी; जबहिं<जव; तबहिं<तब** आदि इन अशुद्धियों के द्वारा हम इस आदर्शतक पहुंचते हैं जहां से यह अशुद्धि प्रारम्भ हुई। यह पाठ प्रति के रूप में प्राप्त नहीं है; वरन् निर्मित किया गया। अतः यह अप्राप्त (Non Extant) प्रति का पाठ कहलाएगा।

(४) पाठ-मिश्रण क आधार पर प्रतियों का वर्गीकरण

प्रतियों का चौथा वर्गीकरण पाठ मिश्रण के आधार पर होता है। इस दृष्टि से प्रतियों के दो भेद होते हैं।

(क) अमिश्रित प्रति (Non Conflated mss)

(ख) मिश्रित प्रति (Conflated mss)

अमिश्रित प्रतियां (Non-Conflated mss)—अमिश्रित प्रतियां वे होती हैं, जिनमें केवल एक ही शाखा का पाठ ही रहता है, और अन्य शाखाओं से उनका आदान प्रदान नहीं होता है। रामचरितमानस की अधिकांश प्रतियां अमिश्रित प्रतियां ही हैं क्योंकि उनमें एक दूसरी शाखा का परस्पर आदान प्रदान नहीं हुआ है।

मिश्रित प्रतियां (Conflated mss)—मिश्रित प्रतियाँ वे प्रतियां होती हैं जिनका निर्माण एक से अधिक स्वतन्त्र शाखाओं के पाठ-मिश्रण द्वारा होता है।[1]

1. Mi[illegible]s-codex...a conflated manuscript where the different streams of independent traditions are intermingled—Katre : Introduction to Indian Textual criticism. p. 95

इस प्रकार कई आधारों से लिखित अपना संशोधित प्रति को मिश्रित प्रति (Conflated mss) कहते हैं। अब खेद है कि यह पाठ मिश्रण की प्रक्रिया एक विशेष नियमानुसार ही हो यह आवश्यक नहीं है। यह पाठ मिश्रण बिना किसी नियम से, बेतरतीब भी हो सकता है।[१] पाठ-मिश्रण दो प्रकार का हो सकता है।

१—एक ही शाखा की दो या अधिक प्रतियों के पाठों को लेकर किया गया पाठ-मिश्रण।

२—दो या अधिक शाखाओं की प्रतियों को लेकर किया गया पाठ-मिश्रण।

पाठ सम्पादन करते समय पाठालोचक के सामने अधिकांशतः मिश्रित प्रतियाँ ही आती हैं, और इन्हीं प्रतियों में सबसे अधिक कठिनाई उसे पड़ती है इसलिए आवश्यक है कि मिश्रित प्रतियों के विषयों में हम थोड़ा विस्तार से जानें पाठ-मिश्रण के मूल कारण क्या हैं, मिश्रण का परिणाम क्या होता है, मिश्रित प्रतियों का पाठ-संपादन में क्या महत्व है आदि पर विचार करें।

मिश्रण की मूल प्रेरणा—पाठ-मिश्रण निम्न दो उद्देश्यों से प्रेरित होकर किए जाते हैं—

(१) पाठ-शुद्धि

(२) पूर्ण पाठ

पाठ-शुद्धि—प्रतिलिपि स्वामी की सदैव यह इच्छा रहती है कि उसके पास जो पाठ है वह शुद्ध ग्रन्थ का पाठ तथा कविकृत पाठ हो। प्रतिलिपि स्वामी यह जानता है कि इस बात की बहुत कम संभावना है कि उसकी प्रति में पूर्ण शुद्ध पाठ होगा। अतः कभी उसे ग्रन्थ की यदि कोई और प्रति मिलती है तो वह अपने पाठ को उससे मिलाकर शोधना चाहेगा। यह बात अत्यंत प्राचीन काल से ही विदित है कि एक प्रति का पाठ दूसरी प्रति के पाठ से मिलाकर सुधारा जाता है। सन् १५४८ में एकनाथ ने इसी प्रकार ज्ञानेश्वरी (१२९० ई०) का पाठ निश्चित किया था। इतना ही नहीं महाभारत के टीकाकारों देवबोध तथा अर्जुन मिश्र ने तो पाठांतरों का उल[illegible] तक किया है। इस प्रकार मिलान द्वारा शुद्ध पाठ प्राप्त करने की इच्छा भी मि[illegible] की मूल प्रेरणा है।

---

1. This knowledge led to the production of what are known as conflated Mss or misch codices, by crossing or intermixing the contents of different copies of a given text available to them with there own examplar. This crossing or intermixing was not done on any well established principles and was therefore eclietic in a deterious sense.

—Katre ; Introduction to Indian Taxtual criticism p. 28.

(२) **पूर्ण पाठ**—मिश्रण का दूसरा मूल प्रेरक तत्त्व अधिक से अधिक पूर्ण पाठ प्राप्त करने की प्रतिलिपि स्वामी तथा प्रतिलिपिकार की इच्छा है। प्रतिलिपि स्वामी चाहता है कि कोई भी ऐसी बात न हो जिसके लेखक या कवि द्वारा लिखे जाने की संभावना हो और वह मेरी प्रति में छूट जाए। इस प्रकार उसकी इच्छा रहती है कि वह अपने पाठ को अधिक से अधिक पूर्ण बना ले। इसके लिए भी एक ही रास्ता है, अपनी प्रति से अन्य प्रतियों का मिलान। इस मिलान के द्वारा यदि वह अपनी प्रति का पाठ पूर्ण करता है तो पाठ-वृद्धि के साथ-साथ पाठ-मिश्रण भी हो जाता है। यह दो पाठ-मिश्रण की मूल प्रेरणाएँ हैं।

मिश्रण के कारण—पाठ मिश्रण के जिन कारणों का हम विवेचन करने जा रहे हैं, उनके मूल में उपर्युक्त दो प्रेरणाएँ—पूर्ण पाठ तथा पाठ-शुद्धि अनिवार्य रूप से रहती हैं। मिश्रण में मिश्रित प्रतियों के निर्माण के महत्त्वपूर्ण कारण निम्न हैं—

(१) किसी भी ग्रंथ की प्रतिलिपि करने के बाद संशोधक उसमें संशोधन करते हैं। यह संशोधन प्रति स्वामी अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति द्वारा हो सकता है। संशोधित स्थल या तो हरताल लगाकर बनाए जाते हैं अथवा पंक्तियों के बीच में हाशिए पर लिख लिए जाते हैं। यह संशोधन प्रवृत्ति पाठ मिश्रण का कारण बनती है।

(२) कभी-कभी संशोधक गण एक ग्रन्थ की कई अन्य परम्पराओं से भी परिचित रहते हैं। अतः ऐसे स्थल पर यदि दूसरी शाखा का पाठ उत्कृष्टतर लगा तो पूर्ण पाठ को हरताल के प्रयोग से धूमिल कर उसमें नया पाठ जोड़ देते हैं।

(३) प्रतिस्वामी तीर्थ यात्रा आदि पर जाता है और वहाँ अपने साथ अपने ग्रन्थ की प्रति भी ले जाता है। तीर्थ यात्रा में उसे अपने ग्रन्थ की यदि उसका ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है तो अनेक स्थानीय परम्पराएँ मिलेंगी। इन परम्पराओं के पाठ के अनुसार वह या तो अपना पाठ सुधार लेता है, अथवा अन्य पाठों को हाशिए में लिख लेता है।

अब यदि इन्हीं प्रतियों की प्रतिलिपि की जाती है तो प्रतिलिपिकार के सामने अनेक स्थलों में दो या उससे अधिक पाठांतर होंगे जिनमें से उसे एक को चुनना होगा। ऐसी स्थिति में प्रतिलिपिकार इन विभिन्न शाखाओं के पाठान्तरों में से अपनी योग्यता के अनुसार पाठांतर चुनकर अपनी प्रतिलिपि में रखेगा और इस प्रकार से जिस प्रति का पुनर्निर्माण होगा उसमें अनेक शाखाओं का पाठ मूल में आ जाएगा। यह प्रतियाँ मिश्रित प्रतियां होंगी और यह किसी एक शाखा की विशुद्ध प्रतियां नहीं होंगी।

इन कारणों के अतिरिक्त दो अन्य कारण भी मिश्रित प्रतियों के निर्माण के हो सकते हैं।

(४) प्रतिलिपिकारों को अधिकतर ग्रन्थ कंठस्थ से हो जाते हैं और यदि कंठस्थ नहीं भी होते तो अनेक स्थलों के पाठ उनके मस्तिष्क में घूमा करते हैं। अब यदि उसे एक ऐसा ही ग्रंथ प्रतिलिपि करने को दिया गया जिसका पाठ उनके दिमाग में नाच रहा है, तो संभावना है अनेक स्थल पर वह अपने आदर्श का पाठ न देकर प्रतिलिपि में दूसरी शाखा का पाठ, जो कि उसके विचार से संभवतः अधिक उत्कृष्ट हो, दे दें। इस प्रकार से ऐसी प्रति में मिश्रण होकर मिश्रित प्रति का निर्माण होगा।

(५) इसी प्रकार ऐसा भी संभव है कि ग्रन्थकार समय-समय पर अपने ग्रन्थों में संशोधन करता रहा हो। इस बात की संभावना तो बहुत कम है कि वह प्रत्येक संशोधन के बाद पूरे ग्रन्थ को अघोपांत लिखेगा। अधिकतर वह संशोधन आदि हाशिए में लिख लेगा। अब यदि एक प्रतिलिपिकार इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि करेगा तो उसके सामने दो पाठांतर होंगे जो कि दोनों ही कविकृत होंगे। अतः वह एक को स्वीकार कर सकता है, दूसरे को अस्वीकार। इस प्रकार वह कुछ संशोधनों को स्वीकार तथा कुछ को अस्वीकार करके पाठ-मिश्रण कर सकता है।

मिश्रण का परिणाम—मिश्रण का परिणाम सामान्यतः तीन दिशाओं में पर्यवसित होता है। मिश्रण के द्वारा पाठ वृद्धि अथवा पाठ ह्रास होता है तथा पाठ परिवर्तन तो होता ही है। इनका विस्तृत विवेचन पाठ विकृतियों के अध्याय में किया जायेगा।

पाठ मिश्रण से लाभ तथा हानि—पाठ मिश्रण से लाभ तथा हानि, जहां तक पाठ की शुद्धता का प्रश्न है, दोनों ही हो सकती है। जैसाकि वेस्टकाट तथा हार्ट दोनों ने कहा है कि प्रतियों के पाठ मिश्रण से पाठ शुद्धता के संदर्भ में हानि होगी या लाभ होगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अधिकतर लाभ तथा हानि दोनों ही होगी और इसका अनुपात कुछ भी तो हो सकता है। एक मिश्रण अधिक शुद्ध पाठ होगा, यह मिश्रण कर्त्ता की विद्वत्ता तथा इसके निर्णय पर आधारित होगा। चूंकि मिश्रण में मस्तिष्क का उपयोग होता है अतः पाठ सुधार करने की प्रवृत्ति का भय रहता है और ऐसी स्थिति में अधिकतर पाठ की हानि ही होगी, क्योंकि जब विद्वानों द्वारा किए गए संशोधनों में बहुत थोड़े ऐसे होते हैं जो कि पाठ को उत्कृष्ट करते हैं तब साधारण प्रतिलिपि स्वामी द्वारा की गई ऐसी चेष्टाओं में उत्कृष्टता की संभावना और कम हो जाती है।

पाठ-निर्माण करते समय मिश्रित प्रतियाँ सदैव विघ्न स्वरूप आया करती है और पाठालोचक सदैव इनसे भयभीत रहता है। मिश्रित प्रतियों से पाठों की स्वतन्त्र शाखाओं का निराकरण असंभव हो जाता है। अतः पाठ निर्धारण में इनसे निःसंकोच सहायता भी नहीं ली जा सकती है। जिन प्रतियों के पाठों में मिश्रण बहुत अधिक हो जाता है, उनका वंशवृक्ष निर्माण भी कठिन हो जाता है।

मिश्रित प्रति का महत्व—अधिकतर ग्रन्थों में पाठ मिश्रण इतना अधिक होता है कि मूल पाठ को खोज निकालना कठिन हो जाता है। अति पाठ-मिश्रण की स्थिति में यदि किसी प्रकार पाठ मिश्रण की समस्या सुलझ भी जाए तो इन प्रतियों का वंश-वृक्ष द्वारा पाठ-निर्माण में कोई महत्त्व नहीं रहता, किंतु इन प्रतियों का एक स्थिति में अत्यधिक महत्त्व होता है। मान लीजिये किसी मिश्रित प्रति में दो शाखाओं का पाठ मिश्रण हुआ है। अब इनमें से एक शाखा के पाठ को देने वाली कोई प्रति नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में मिश्रित प्रति से उस शाखा का पाठ प्राप्त किया जा सकता है तथा उसके पाठ-निर्माण में सहायता की जा सकती है ऐसी स्थिति में मिश्रित प्रति का महत्त्व एक स्वतंत्र शाखा के प्रतिनिधि के रूप में होगा।

उदाहरण के लिए पंचतन्त्र[1] की पूर्णभद्र वाली प्रति में तंत्राख्यायिका संक्षिप्त-कार तथा एक स्वतन्त्र शाखा का पाठ मिश्रित है। आज इस स्वतन्त्र शाखा की कोई प्रति प्राप्ति नहीं है अतः पूर्णभद्र के मिश्रित पाठ द्वारा इस शाखा का जो पाठ हमें प्राप्त है उसका उपयोग पाठ-निर्माण में होगा और पाठ का जहाँ तक सम्बन्ध है, पूर्णभद्र एक स्वतन्त्र शाखा का पाठ देने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रति है।

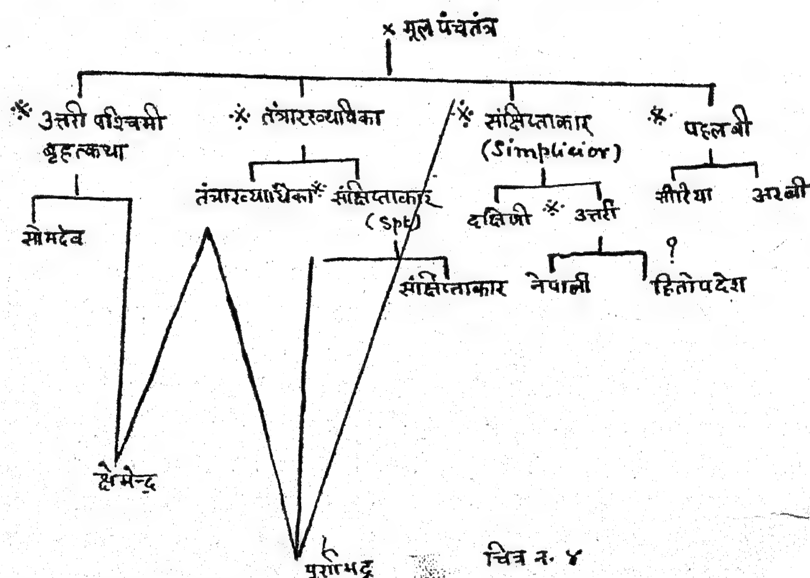
उपर्युक्त स्थिति के अतिरिक्त मिश्रित प्रति का महत्व तब भी होगा जबकि उसका पाठ किसी ऐसी शाखा के पाठ से मिलता जिससे इसका मिश्रण न हो। उदाहरणार्थ क्षेमेन्द्र और पूर्णभद्र वाली प्रति के पाठ का महत्व इस स्थल पर होगा जहां वे दक्षिणी तथा पहलवी शाखा के पाठ से मेल खाते हैं।

सुकंथकर ने मिश्रित पाठ-परंपरा का महाभारत में उपयोग किया है। उन्होंने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है। महाभारत के N तथा S दो रूपांतर (Recension) हैं। इनमें N का पुनः दो भागों में V तथा Y में उपविभाजन हो जाता है। पाठों का मिलान यह संकेत करता है कि सामान्यतः शुद्ध शाखा K भी मिश्रित है। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र शाखाओं के पाठ साम्य के आधार पर पाठ-निर्माण किया गया है। पाठान्तर मिलने की ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र शाखा की प्रतियों के बहुमत तथा अन्तंसाक्ष्य के आधार पर पाठ-निर्माण किया गया। किन्तु विशेष कठिनाई तो उस स्थल पर आती थी जहां प्रत्येक रूपान्तर की दो या अधिक शाखाओं में अलग अलग पाठ-साम्य होता है। ऐसी स्थिति में एक पाठ अवश्य अशुद्ध होगा और कोई भी स्वीकार किया जा सकता है। यदि दोनों ओर अंतंसक्ष्यि बराबर हैं तो सुकंथकर ने K शास्त्र का पाठ स्वीकार किया है क्योंकि इसके पाठ सामान्यतः शुद्ध हैं। यह पाठ काम चलाऊ (stop gep) के रूप में होता है।

इसी प्रकार मिश्रित प्रतियों के आधार पर उपआदर्श के पाठ निर्माण की प्रक्रिया महाभारत के एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिए एक परम्परा (ग्रन्थ परम्परा) की ६ प्रतियाँ हैं। इनका पाठ निर्माण करना है। यह सम्भव है कि इसमें से चार (गन्थ १,२,४,५) जो कि मिश्रित हैं उनमें कोई विकृत

पाठ हो और शेष दो (ग्रन्थ ३,६) में मूल पाठ हो। ऐसी स्थिति में मूल पाठ का निर्माण केवल इसी शाखा की प्रतियों से नहीं हो सकता। यह अन्य शाखाओं (तेलगु, मलयालम, नेपाली) के द्वारा ही हो सकता है यथार्थ में अन्य शाखाओं के पाठ को देखे बिना यह पता ही नहीं चल सकता कि प्राप्त प्रतियाँ मिश्रित हैं।

ऊपर हमने पाठालोचन की मुख्य सामग्री जो प्रतियों के रूप में हमारे समक्ष आती है, का विवेचन किया है। अब हम उस सामग्री का विवेचन करेंगे जो कि पाठालोचन में सहायक होती है। यह सहायक सामग्री (Testimonia) अनेक रूपों में पाठालोचक के समक्ष आती हैं।



चित्र न. ४

※ काल्पनिक आदर्श

सहायक सामग्री (Testimonia)

पाठ सम्पादन में ऐसी सामग्री की भी आवश्यकता पड़ती है जो प्रतियों के रूप में पाठालोचक के सामने प्रस्तुत न होकर विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरण, सुभाषित संग्रह, भाषांतर अनुवाद, टीका टिप्पणी, भाष्य आदि के रूप में सामने आती है।

ऐसी सामग्री को पाठालोचन में सहायक सामग्री[1] (Testimonia) कहा जाता है।

कवि सर्वदा अपने पूर्ववर्ती कवियोंसे और तत्कालीन और पूर्ववर्ती राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक दशाओं से प्रभावित होता है तथा परवर्ती कवियों को प्रभावित करता है। इस प्रकार परवर्ती तथा समवर्ती लोगों पर कवि का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसलिए उस रचयिता की कृतियों का अपनी प्रतिलिपियों के अतिरिक्त कुछ सामग्री ऐसी भी प्राप्त होती है जो उस रचना विशेष के अवतरण, भाषांतर, टीका, टिप्पणी इत्यादि के रूप हो सकती है। यह सामग्री मूल ग्रन्थ के संपादन में किसी सीमा तक पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है।

सहायक सामग्री का पाठ-सम्पादन में महत्व—सहायक सामग्री के आधार पर हमें ग्रन्थ की प्राचीनता का अनुमान लगाने में पर्याप्त सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए यदि किसी ग्रन्थ की कोई प्राचीनतम प्रति १७वीं शताब्दी की है और हमारे पास ऐसा कोई अन्य साधन नहीं है जिससे हमें यह ज्ञात हो सके कि यह कृति १७वीं शती के पूर्व की तो नहीं है, ऐसी स्थिति में यदि सहायक सामग्री के रूप में उस ग्रन्थ के या उस कवि के उद्धरण उससे पूर्व की पुस्तक कल्पना कीजिए १५वीं शती की पुस्तक, में मिल जाते हैं तो हम कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ १७वीं शताब्दी से पुराना है तथा १५वीं शताब्दी तक तो इसकी प्राचीनता सिद्ध ही है।

दूसरा लाभ सहायक सामग्री की प्राप्ति से यह भी है कि हम जान सकते हैं कि इस कृति की पहले क्या स्थिति थी। यदि ग्रन्थ में वह उद्धरण रूप में प्राप्त है तो सिद्ध है कि कृति का उद्धृत ग्रन्थ के समय में विशेष मान रहा होगा। कहां-कहां ग्रन्थ का प्रचलन था इसका भी ज्ञान हमें सहायक सामग्री के आधार पर ही हो सकता है। उदाहरण के लिए प्रयाग में किसी १५ शताब्दी के कवि की रचना प्राप्त है तथा उसी कवि की रचना राजस्थान उड़ीसा आदि में भी प्राप्त है। तो हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि वह कृति तथा उसका लेखक कितना सर्वप्रिय रहा होगा तथा उस की प्रसिद्धि कितनी रही होगी। कहां-कहां ग्रन्थ का प्रचलन था इसका ज्ञान भी हमें सहायक सामग्री के ही आधार पर हो सकता है।

---

1. "Testimonism evidence of a partial nature, other than the direct documents evidence, found in quotations, commentaries, translation, adaptations, resums, parodies etc. for setting the condition of transmittted text."

Katre : Introduction to Indian Textual criticism. p. 97

"For tne bettering of the transmitted text we can call in aids of a partial or subsidiary character which are known in general as testimonia." —Postgate : Encyclopaidia Britanica.

सहायक सामग्री के प्रकार—सहायक सामग्री प्रायः निम्न रूपों में हमें मिलती हैं—

(क) उद्धरण —उद्धरणों के साक्ष्य जो प्राचीन ग्रंथकारों की विभिन्न पुस्तकों में बिखरे पड़े हैं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा पाठालोचक के लिए लाभप्रद हैं। यह उद्धरण प्रायः बिना नाम के मिलते हैं। उद्धरणों का पाठालोचन में प्रयोग करते समय सर्वप्रथम यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन ग्रन्थों में उद्धरण मिलते हैं वह तुलनात्मक रीति से सुसंपादित हो चुके हैं अथवा नहीं। यदि नहीं तो इनके पाठांतरों को अवश्य देखना चाहिए। सम्भव है इन पाठों में से कोई पाठ मौलिक हो तथा उसकी प्रामाणिकता अधिक हो। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन लेखक अन्य पुस्तकों के अंश को प्रायः अपनी स्मृति से उद्धृत करते थे अतः ऐसे उद्धरणों का महत्त्व विशेष नहीं होता। परन्तु सिद्धांत ग्रन्थों में उद्धरणों को सावधानी से ग्रहण किया जाता था इसलिए इनका महत्त्व विशेष होता है और यह अधिक विश्वसनीय होते हैं। उद्धरण कुछ आलोचनात्मक ग्रन्थों में भी मिलते हैं, यद्यपि प्राचीन साहित्य में इसका अभाव है। इस प्रकार उद्धरण ग्रन्थ सम्पादन में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं। बृहद्देवता का लगभग पांचवां भाग षडगुरु शिष्य ने सर्वानुक्रमणी की टीका में, सायण ने अपने भाष्यों में और रीति मंजरी में उद्धृत किया है। इनकी सहायता से मैकडानल ने बृहद्देवता के कई पाठों का निश्चय किया जो कि वैसे संदिग्ध रह जाते हेमचन्द का 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन प्राकृत तथा अपभ्रंश का पूर्ण व्याकरण है। इसमें अनेक ग्रन्थों के उद्धरण प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ इसमें मुंजरास के तीन छन्द मिलते हैं और मुंजरास ग्रन्थ के सम्पादक में सिद्ध हेम शब्दानुशासन से सहायता मिल सकती है।

(ख) सुभाषित संग्रह—यदि संपादनीय कृति के कुछ अवतरण किसी सुभाषित संग्रह में मिलते हों तो वह संग्रह पाठ सम्पादन में यथोचित सहायता दे सकता है क्योंकि वह संग्रह-ग्रन्थ प्रस्तुत ग्रन्थ की उपलब्ध प्रतियों से प्रायः अधिक प्राचीन होता है। संस्कृत में इस प्रकार के अनेक सुभाषित संग्रह है जैसे कवीन्द्र वचन समुच्चय, हाल की सतसई, शांगधर-पद्धति, गाथाकोश आदि। हिन्दी में गुरु ग्रन्थ साहब, दादू तथा निरंजनी सप्रदाय के ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं। संग्रह-ग्रन्थों की गणना भी इसी वर्ग में होगी। जगन्नाथदास का गुणगंजनाम, पंचवाणी आदि ऐसे ही संग्रह ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त हजारा नाम के भी कई संग्रह-ग्रन्थ हिन्दी में मिलते हैं जिनमें विशेष (ऋतु, शृंगार, नायिका भेद सम्बन्धित) प्रकार के छन्द मिलते हैं। परिचय ग्रन्थ भी इन्हीं में आते हैं।

(ग) भाषांतर या अनुवाद—यदि अनुवाद प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतियों से प्राचीन हो तो उसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा का साहित्य बहुधा संस्कृत भाषा में था। इसके अनुवाद चीनी-तिब्बती भाषाओं में अति प्राचीन

काल में ही हो चुके थे। अतः इन अनूदित ग्रन्थों के संपादन में चीनी-तिब्बती अनुवादों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है जैसे जानसन ने अश्वघोष के बुद्ध-चरित में किया है। महाभारत के संपादन में जावा में प्राप्त महाभारत के अनुवाद से सहायता लेनी चाहिए।

(घ) टीका, टिप्पणी, भाष्य, वृत्ति आदि—टीकाओं में प्रायः प्रतीक (ग्रन्थ की पंक्तियां श्लोक का अंश) को उद्धृत करके उसका अर्थ और मूल व्याख्या की जाती है। इन प्रतीकों से उस ग्रन्थ की तत्कालीन पाठों का पता चल सकता है। कई बार टीकाकार भाष्यकार आदि प्रतियों का मिलान करके सम्यक पाठ ग्रहण कर लेते थे और दूसरे पाठ निर्देशित कर देते थे। कहीं- कहीं तो व्यक्त पाठ के साथ असम्यक, अपपाठ, प्रायशः, अर्वाचीन पाठ आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। कई बार टीका-पाठ की समीचीनता भी सिद्ध करते थे।

पाठालोचन में टीका आदि का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। जहां किसी अंश की टीका न मिलती हो। वहां यह न समझ लेना चाहिए कि वह अंश मूल में थारी नहीं और क्षेपक है। अक्सर टीकाकार सरल अंशों की टीकाएं नहीं करते, उन्हें छोड़ जाते हैं। किंतु यदि किसी टीका में कोई बड़ा और कठिन अंश अप्राप्य है जो कि दूसरी टीका में प्राप्त है तो संदेह का समान है। उदाहरणार्थ महाभारत के संपादन में सुकथंकर ने अनेक प्रकार की टीकाओं का उपयोग किया था उस में उन्हें कुछ टीकाओं के ऐसे अंश मिले जो कठिन अंश थे और जिनकी टीका किसी में मिलती थी, किसी में नहीं। उदाहरणार्थ देवबोध की टीका में १८६ श्लोक का एक अंश नहीं है जबकि अर्जुन मिश्र तथा नीलकंठ से उसका विस्तार सविवेचन है। यह अंश कश्मीरी उपशाखा में भी नहीं है।

पाठ निर्धारण में, प्रतिलिपिकारों, सम्पादकों की मनोवृत्तियों का अध्ययन करने में टीका, टिप्पणी उपयोगी सिद्ध होती हैं। जटिल स्थानों पर इनसे अर्थ समझने में भी सहायता मिलती है। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर का पाठ निर्धारण करने में अनेक टीका-टिप्पणियों जैसे साधु पूरणदास की टीका, रीवाँ नरेश की पाखण्ड खण्डिनी टीका, विचारदास की बीजक टीका आदि की सहायता ली है।

(ङ) सार ग्रन्थ—सार से मूल और मूल से सार ग्रन्थ के संपादन में यथोचित सहायता मिलती है। क्षेमेन्द्र की भारतमंजरी महाभारत की कश्मीरी धारा का सार मात्र है। अतः ११ वीं शताब्दी में कश्मीर में यह महाभारत की स्थिति बतलाती है। रामायण मंजरी, अभिनन्द का कादम्बरी कथासार आदि इसी प्रकार सार ग्रन्थ है।

(च) अनुकरण ग्रन्थ—अनुकरण ग्रन्थ और अनुकृत ग्रन्थ एक दूसरे के पाठ-निर्माण में पर्याप्त सहायता देते हैं। क्षेमेन्द्र ने पद्यबद्ध कादम्बरी लिखते समय बाण

की कादम्बरी का अनुकरण किया। बाल्मीकि रामायण के अनुकरण पर प्राकृत में पउमचरिउ मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध कवियों के प्रयोगों का परवर्ती कवि भी अनुकरण करते हैं।

(छ) **समस्या-पूर्ति सम्बन्धी ग्रन्थ**—समस्या पूर्ति के रूप में भी ग्रन्थ बनाए जाते हैं। कालिदास के मेघदूत की समस्या पूर्ति के रूप में जिनसेन ने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ पार्श्वाभ्युदय की रचना की थी। अतः एक ही धारा के कवि के प्रयोग उसी धारा के कवि की गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होते है।

(ज) **समान पाठ**—किसी सम्प्रदाय या शाखा के ग्रन्थों में प्रायः समान वृत्त, पाठ, प्रकरण आदि मिलते हैं जो संपादन में पर्याप्त सहायता देते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत का शकुंतलोपाख्यान पद्मपुराण में भी मिलता है। इस प्रकार महाभारत के शकुंतलोपाख्यान का सम्पादन करते समय किसी त्रुटित या भ्रामक अंश पर पद्मपुराण के शकुंतलोपाख्यान से काफी सहायता मिल सकती है।

(झ) **कवि के अन्य ग्रन्थ**—किसी कवि के ग्रन्थ-सम्पादन में उसके अन्य ग्रन्थों का अध्ययन भी सहायक सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त गजेटियर प्रशस्तियाँ आदि भी पाठ सम्पादन में सहायक सिद्ध होती हैं। इसलिए इन्हें भी सहायक सामग्री (testimonia) के अन्तर्गत ले सकते हैं।

सामग्री-संकलन के उपरांत प्रतियों की परीक्षा पाठालोचक करता है, क्योंकि परीक्षा के द्वारा ही वह प्रतियों की प्रामाणिकता जानने में समर्थ हो पाता है, वह जान सकता है कि प्राप्त प्रति में कितना अधिक जाल किया गया है, प्रतिलिपिकारों ने पाठ में सचेष्ट या निश्चेष्ट रूप से कितने और कहाँ संशोधन किए हैं, किसी प्रति पर पाठ निर्धारण करते समय कितना अधिक विश्वास किया जा सकता है और कौन प्रति कितना पाठ मूल लेखक का दे रही हैं। इस प्रकार प्रतियों की परीक्षा कर उनकी प्रामाणिकता जानना पाठालोचक के लिए दूसरा प्रमुख और आवश्यक कार्य है। प्रतियों की परीक्षा दो प्रकार होती है।

(क) बहिरंग परीक्षा (Documentary Probability or Extrinsic Probability)

(ख) अंतरंग परीक्षा (Intrinsic Probability)

प्रतियों की बहिरंग परीक्षा[1]—प्रतियों की बहिरंग परीक्षा से हमारा तात्पर्य

---

१. "किसी भी पाठ सामग्री के सम्बन्ध में यह देखना कि उसके लिपिकाल, लिपिकार, लिपि प्रयोजन आदि के सम्बन्ध में उसमें जो कुछ कहा या लिखा हुआ है, वह कहाँ तक विश्वसनीय है, अथवा यदि उसमें इस प्रकार का उल्लेख नहीं है फिर भी इन विषयों पर उसके सम्बन्ध में कोई प्रसिद्धि रही है, तो वह कहाँ तक मान्य है यह प्रति की बहिरंग परीक्षा कहलाती है।"—डॉ० माता प्रसाद गुप्त : अनुसंधान की प्रक्रिया (पाठानुसंधान) पृष्ठ १२३.

जो प्रतियों के स्थूल रूप या बाहरी रूप से सम्बन्धित
प्रतियों की उस परीक्षा से है यह परीक्षा लेखक के प्रयोग, भाषा
है और जिसका सम्बन्ध लेखक से नहीं होता है। की प्रतिलिपि परंपरा तथा
शैली, विचारधारा आदि से सम्बन्धित न होकर ग्रन्थ इसके अन्तर्गत प्राप्त प्रति
प्रतियों के बाह्यरूप, उनके संरक्षण, आदि से संबन्धित है। तथा आज के प्राप्त रूप में क्या-क्या
की प्रतिलिपि परम्परा, उसकी लिपि, मूल ग्रन्थ, किन-किन विभिन्न लिपियों
परिवर्तन तथा परिवर्धन हुआ, इस बीच के काल में ग्रन्थ उसके कारण ग्रन्थ में क्या-क्या
में होकर प्राप्त लिपि में आया, लेखन सामग्री तथा एक ग्रन्थ का पाठ नमी
संभावित परिवर्तन आदि हुए हैं, सभी बातें आ जाती है। उसके पन्ने फट
के कारण, अथवा अत्यधिक प्रयोग के कारण नष्ट हो सकता है, स्याही फैल जाने
सकते हैं, पत्र उलट पुलट सकते हैं, किनारे के अंश टूट सकते है, विकृतियों का ज्ञान
से पाठ विकृतियाँ हो सकती हैं। इन सब कारणों से हुई पाठ आधार पर जो
प्रतियों की बहिरंग परीक्षा से ही होगा, और इस बहिरंग परीक्षा के Evidence) होगा
साक्ष्य बनेगा वह प्रतियों का बाह्य साक्ष्य (Documentary बहिरंग संभावना (Docu-
तथा इस साक्ष्य के आधार पर जो संभावना बनेगी वह कहलाएगी।
mentary Probability or Extrinsic Probability)

किसी भी प्रति के प्राप्त होने पर सर्वप्रथम उस प्रति की बहिरंग परीक्षा
करनी चाहिए। इसमें चार बातों की जाँच होती है—

(क) प्रति का आकार प्रकार, उसकी प्राचीनता और प्रति में दी हुई तिथि
की प्रामाणिकता आदि की जाँच।

(ख) प्रति का पाठ कहाँ तक अपने लिपिकार (Seribe) द्वारा प्रस्तुत
रूप में है, और उसमें कितना संशोधन परिवर्तन तथा परिवर्धन हुआ है।

(ग) संशोधनों की जांच-कौन संशोधन मूल लेखक के हैं, कौन से लिपिकार
के हैं, और कौन से अन्य व्यक्तियों के हैं, इसकी परीक्षा।

(घ) प्रति में यदि पाठ वृद्धि की गई है तो उसकी जांच भी बहिरंग परीक्षा
के अन्तर्गत ही होगी।

उपर्युक्त चार बातों की जांच के लिए आवश्यक है कि कोई भी प्रति मिलने
पर निम्न बातों की विस्तृत सूची बना ली जाए—

(१) **आकार**—इसमें प्रति का आकार प्रकार अर्थात् लम्बाई और चौड़ाई
देखी जाती है। जैसे ६″ × ५″

(२) **पत्र संख्या**—किस पत्र से लेकर किस पत्र तक प्रति है तया उसमें कुल
कितने पत्र हैं। अवसर एक साथ ही दो तीन ग्रन्थ एक प्रति में लिखे मिलते हैं। ऐसी
स्थिति में आलोचक को, सँपादनीय ग्रन्थ किस पत्र से किस पत्र तक है, इसको नोट
कर लेना चाहिए। कभी-कभी प्रतियों पर या पत्रों पर पत्र-संख्या या पृष्ठ संख्या
दी रहती है, यदि ऐसा नहीं है तो पत्र-संख्या गिनकर नोट करनी चाहिए।

(३) **खण्डित अथवा नहीं**—यदि प्रति खण्डित हैं तो किस स्थान पर, आदि और अन्त के पन्ने हैं अथवा नहीं, बीच में कौन से पत्र गायब हैं, कौन फट गए हैं, कितने और किस जगह फटे, इन सब बातों को भी नोट करना चाहिए।

(४) **पूर्ण या अपूर्ण**—आकार और पत्र-संख्या के उपरांत यह देखना आवश्यक है कि प्रति पूर्ण हैं या अपूर्ण। यदि प्रति अपूर्ण है तो किस अर्थ में। प्रथम अर्थ अपूर्ण का अधूरा होता है। अतः यह जानना चाहिए कि प्रति ऐसी तो नहीं है कि लिपिकार ने थोड़ा-सा लिखने के बाद छोड़ दिया हो। इस स्थिति में किस स्थान पर लेखक ने लिखना छोड़ा है, इसकी स्पष्ट सूचना देनी चाहिए। अपूर्ण का दूसरा अर्थ है वह प्रति जिसके समस्त पत्र प्राप्त न हों। यदि ऐसा है तो इसकी सूचना भी लिख लेनी चाहिए।

(५) **स्याही**—पोथी की स्याही कैसी है, कितनी प्रकार की स्याहियों का प्रति में उपयोग हुआ है इसका ज्ञान भी पाठालोचक को होना चाहिए। आजकल की तथा पहले की स्याही में यथेष्ट अन्तर है। स्याही की जाँच से प्रतियों में अनेक जाल पकड़े जा सकते हैं, और जाते भी हैं। जाल का पता स्याही में अध्ययन से काफी अंश तक लग सकता है।

(६) **कागज**—आजकल मिल के कागज का प्रचलन है। यह १९वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ है। अतः आज के कागज की प्रति १९वीं शती से पूर्व की कभी हो ही नहीं सकती। इसके अतिरिक्त विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार का कागज प्रयुक्त होता था अतः कागज द्वारा उस प्रति का युग निश्चित किया जा सकता है। इसी प्रकार एक युग में ही स्थान भेद के अनुसार कागजों में भी विभिन्नता आ जाती है। कागजों की स्थानीय विशेषता (Regional Quality) होती है। मिल कागज के पूर्व यह हाथ द्वारा स्थानीय प्राप्त कच्चे माल से बनाये जाते थे अतः इसमें स्थानीय विशेषता आना स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए बंगाल और मथुरा के कागज में यथेष्ट अन्तर था। यदि एक प्रतिलिपिकार लिखता है कि यह प्रति मथुरा की है और वह कागज जाँच करने पर बंगाल का निकलता है तो संदेह का यथेष्ट कारण है। इस बात की बहुत कम संभावना है कि उस काल में कोई बंगाल से कागज लाकर मथुरा में प्रतिलिपि करेगा। अन्त में कागज की शक्ल-सूरत, वह अनुमान से पुराना लगता है या नहीं, आदि बातें भी नोट कर लेनी चाहिए।

(७) **पुष्पिका** (Colophon)—पुष्पिका का नोट करना सबसे अधिक आवश्यक है। इसमें तिथि, प्रतिलिपि का उद्देश्य, प्रतिलिपिकार का नाम, प्रतिलिपि किसके लिए की गई है और कभी-कभी किस प्रति से प्रतिलिपि की गई है, आदि सूचनाएँ दी रहती हैं जो पाठालोचक के लिए पाठ-संपादन में बड़ी लाभप्रद सिद्ध होती है। पुष्पिका अधिकतर ग्रन्थ के अंत में दी रहती है। खंड में विभक्त

पुस्तकों (मानस) में यह प्रत्येक खंड के बाद भी मिलती है पर इसका बीच में मिलना आवश्यक नहीं है।

बीसलदेव रास की प्रतियों की पुष्पिकाओं में प्रायः प्रतिलिपिकार का नाम, संवत्, दिनांक तथा किसके हेतु लिखी गई आदि दी हुई मिलती हैं। जैसे पं० समूह की रत्नशेषरेण की प्रति में यह सभी सूचनाएँ मिलती हैं।

रत्नशेषरेण की प्रति की पुष्पिका निम्न है—

।।२४८।। कं० भ०।। इति श्री सिंगार वर्णन बीसलदेव रास समाप्तं ।। संवत् १७५१ वर्ष चैत्र वदि ४ शुक्रवारे ।। टिणी मध्ये वा० श्री ५ श्री कनक माणिक्य गणि जी तत शिष्य पं० रत्नशेषरेण लिपि चक्रे। वेगवाणी साह श्री अभैराज जी वाचनार्थं। श्री रस्तुः ।। कल्याणमस्तुः ।।

इसी प्रकार पं० सीहा द्वारा प्रतिलिपि की गई बीसलदेव रास की प्रति में संवत् तथा प्रतिलिपिकार के नाम के साथ-साथ यह भी सूचना मिल जाती है कि यह प्रति आगरे में लिखी गई थी।

।।२४६।। इति श्री बीसलदेव रास समाप्रतं ।।१।। संवत् १६३३ वर्षे वैशाख वदि ११ दिने। आदि त्यवारे। लिषतं आगरा मधे पं० सीहा लिषतं ।।संपूर्ण।।६।।१।।

बीसलदेव रास की तिथि युक्त प्रतियों में यह सबसे प्राचीन प्रति है। इस प्रकार पुष्पिका द्वारा अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। जिससे इसका ज्ञान पाठालोचक के लिए आवश्यक हो जाता है।

(८) लिखावट—लिपि में समय के अनुसार बराबर अन्तर हुआ करता है। अतः यह देखना आवश्यक है कि जिस युग की प्रति कही जाती है उस युग की उसकी लिखावट है अथवा नहीं। यदि राजस्थानी प्रतिलिपिकार है तो प्रतिलिपि उस काल की राजस्थानी में है अथवा नहीं। इस बात की जाँच उन प्रतियों के साथ बहुत आवश्यक होती है जो बहुत कम संख्या में प्राप्त हैं। यदि अनेक प्रतियाँ मिलती हैं तो इस ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि यदि कोई प्रति प्राचीन है तो केवल वह प्रति प्राचीनता के कारण ही प्रामाणिक न मान ली जाए। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन प्रति का कोई महत्व ही नहीं है। यथार्थ में प्राचीन प्रति का महत्व बहुत अधिक है; क्योंकि यह उस ग्रन्थ तथा उसके पाठ की एक सीमा निर्धारित कर देती है। उदाहरणार्थ एक ग्रन्थ की रचना तिथि संवत् १३०७ कही जा रही है। अब हमें इसी ग्रन्थ की एक प्रति संवत् १२८० की मिल जाती है तो कम से कम यह मानना ही पड़ेगा कि पहली रचना तिथि (सं० १३०७) गलत है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि सं० १२८० की प्रति का पाठ अधिक प्रामाणिक हो। इस प्रकार प्राचीन प्रतियाँ कम से कम यह तो सिद्ध कर ही देती है कि ग्रन्थ-रचना कितनी पुरानी है।

(क) **तिथि गणना**—रचना की प्रामाणिकता की परीक्षा करने में तिथि का भी विशेष महत्व रहता है। यह तिथि पुष्पिका में दी रहती है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति सं० १४५१ की प्रति में लिखता है कि मैंने यह प्रति जयपुर में लिखी है और इतिहास द्वारा यह पता चले कि उस समय तक जयपुर नगर की स्थापना ही नहीं हुई थी तो जाल तुरन्त पकड़ा जाएगा। अतः प्रतिलिपि जिस स्थान पर की गई हो, जिसके लिए की गई हो, तथा इसमें जो तिथि दी हुई हो सबकी कड़ी जाँच करनी चाहिए। यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके आधार पर बहुत-सी समस्याओं का निराकरण हो जाता है। प्रतिलिपि में दी हुई तिथि यदि गणना से ठीक उतरती है तब तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि तिथि अशुद्ध निकलती है तो सन्देह का बहुत बड़ा कारण है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का तो मत है कि यदि तिथि गणना से अशुद्ध निकलती है तो प्रति अवश्य अप्रामाणिक है। हिन्दी के ग्रन्थों में अधिकतर तिथियाँ पूरी दी जाती हैं अर्थात् केवल मास पक्ष तिथि तथा दिन (वार) सब दिया जाता है। दिन का उल्लेख इसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी से जाल पकड़ा जाता है। यदि किसी प्रति में तिथि अधूरी अर्थात बिना दिन (वार) के मिले तो संदेह का यथेष्ट स्थान है। यदि किसी प्रति में केवल संवत् ही मिलता है तो उसकी अप्रामाणिकता का और भी अधिक प्रमाण है। यथार्थ में ऐसी अधूरी प्रति को प्राचीनता का बाना पहनाने का असफल प्रयत्न किया जाता है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखावट तथा गणना के द्वारा अनेक प्रतियों में प्रतिलिपिकारों द्वारा किए गए जालों को पकड़ा है और यह बताया है कि प्रति कितनी प्राचीन है और उसमें किस प्रकार जाल किया गया है। इस प्रकार की जालसाजी का सबसे सुन्दर उदाहरण 'श्रावण कुंज' में अयोध्या में सुरक्षित 'मानस' के बालकांड की प्रति है। इस प्रति में पुष्पिका दी हुई है।

॥ संवत् १६६१ वैशाख शुदि ६ बुधे ॥

यह तिथि अशुद्ध है। असली तिथि सं० १६९१ है। अब हमें देखना है कि सं० १६९१ की तिथि को सं० १६६१ का रूप देने के पीछे प्रतिलिपिकार की क्या दृष्टि है, तथा यह अशुद्धि कैसे पकड़ी गई।

हम यह जानते हैं कि कवि के जीवनकाल की प्रति का विशेष महत्व होता है। एक प्रति जो कवि के जीवनकाल के काफी बाद की है, में अधिक अशुद्धि की संभावना रहती है अपेक्षा कृत उस प्रति के जो कवि के जीवन काल की है। यह एक साधारण नियम है किन्तु यह नियम अनिवार्यतः लागू नहीं होता, क्योंकि संभव है कि बाद की प्रतिलिपियों का 'आदर्श' भी वही मूल प्रति है जो कि कवि के जीवन काल का प्रतिलिपियों की थी। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि नवीनतम प्रतियों में पुरानी प्रतियों से अधिक अशुद्धियाँ हों। अतः यद्यपि केवल तिथि के आधार पर नहीं कहा जा सकता कि यह प्रति अधिक शुद्ध अथवा अशुद्ध है, पर अन्य बातें समान होने

पर पुरानी प्रति का नवीन प्रति से अधिक महत्व होगा। इसके भी कारण हैं। समय के साथ लिपि में परिवर्तन होता है और यदि लिपिकार मक्षिका स्थाने मक्षिका रखने वाला नहीं है तो वह अधिकतर उन स्थानों पर अशुद्धियाँ करेगा जहाँ प्रतिलिपिकार आदर्श की लिपि ठीक नहीं समझ पाता, अथवा जिन शब्दों को वह नहीं समझ पाता वहाँ वह नवीन शब्द रख देगा। इन्हीं कारणों से एक प्रति कवि के जीवन काल के जितने निकट की होती है, उतनी ही महत्व की मानी जाती है।

बालकांड की उपर्युक्त प्रति के बारे में कहा जा रहा था कि तुलसी ने स्वयं अपने हाथ से इसमें संशोधन किये हैं। इस प्रकार इस प्रति को स्वहस्त लेख (Autograph) का महत्व दिया जा रहा था। इसके लिए यह आवश्यक था कि इसकी तिथि तुलसी के जीवनकाल सं० १६८० के पूर्व की हो। इस प्रति की तिथि बदलने के पीछे यही मूल भावना काम कर रही थी।

अब दूसरी बात इस अशुद्धि की खोज थी। इस जाल को डॉ० गुप्त ने लिखावट तथा तिथि की गणना द्वारा पकड़ा। उपर्युक्त प्रति में दिन, वार आदि दिया था। डा० गुप्त ने जब गणना की तो उन्होंने देखा कि गणना के अनुसार तिथि ठीक नहीं उतर रही है। बस यहीं से प्रति की तिथि के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। अब इस प्रति का लिखावट के आधार पर सूक्ष्म अध्ययन किया गया। इसका संवत् इस प्रकार लिखा गया था कि उसमें आए छः के अंक के ऊपर रेफ लगी थी। अब डॉ० गुप्त ने प्रति से जितने स्थानों पर यह अंक आया था उसे देखा। इस अध्ययन से पता चला कि प्रति के अन्दर कहीं भी ६ के अंक के ऊपर रेफ नहीं लगी है।

प्रति के अंदर अंक	पुष्पिका का अंक
१६	१र्६

इस अध्ययन से प्रमाणित हुआ कि मूल तिथि में रेफ नहीं था, अतः वह बिना रेफ के थी। जैसा कि दूसरी पंक्ति में दिया हुआ है।

पुष्पिका की तिथि

१र्६र्६१

१र्६र्६१················(i)

१६६१················(ii)

१६६१················(iii)

अब प्रश्न उठता है कि रेफ आया कैसे? प्रति की स्याही को ध्यान से देखने पर पता चला कि प्रथम तथा द्वितीय ६ के ऊपर का रेफ तथा द्वितीय ६ के नीचे के भाग की स्याही सम्पूर्ण तिथि की स्याही से भिन्न है। अतः मूल प्रति में प्रथम तथा द्वितीय ६ के ऊपर रेफ नहीं था तथा द्वितीय ६ में नीचे का भाग नहीं था। इस

प्रकार पता चला कि द्वितीय ६ यथार्थ में ६ था जिसको बाद में ६ का रूप दिया गया। [६7६] और प्रथम ६ के ऊपर रेफ [६७६] लगा दी गई। इस प्रकार तुलसी की मृत्यु के बाद लिखी हुई १६६१ की प्रति को तुलसी की समकालीन १६६१ की बना दिया गया। इस प्रकार तिथि की गणना के द्वारा अशुद्धि का आभास पाकर जब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह प्रति स० १६६१ की है तब इसमें तुलसी द्वारा किए गए संशोधन का प्रश्न ही नही उठता। अतः यह मूल प्रति नहीं है। यद्यपि यह सम्भव है कि यह मूल प्रति के निकट की प्रति हो।

इसी प्रकार प्रतियों में ८ का ६ [८७६] बहुत हुआ है और इसका पता लिखावट तथा गणना के आधार पर लगाया जा सकता है।

खोज रिपोर्ट (search Reports) तथा हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में भी ग्रन्थों का विवरण दिया रहता है। इनमें उपयुक्त सूचनाओं के अतिरिक्त, लेखक का नाम, पुस्तक का नाम, विषय सूची, उसकी भाषा तथा लिपि के विषय में सूचना दी रहती है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त के अंश भी दिए रहते हैं। जिन ग्रन्थों में छंद-संख्या प्रारम्भ से अन्त तक दी होती है उनकी सम्पूर्ण छंद-संख्या दी जाती है और यदि ग्रन्थों में खंड-खंड में स्वतन्त्र क्रम-संख्या रहती है तो प्रत्येक खंड की छंद संख्या दे दी जाती है। कभी-कभी एक अन्य प्रणाली भी प्रयुक्त होती है। यह श्लोक संख्या देना है। यह प्रणाली संस्कृत से आई है। संस्कृत के ग्रन्थ सटा-सटा कर लिखे जाते थे। अतः या तो प्रत्येक पंक्ति में कितने अक्षर हैं और प्रत्येक पृष्ठ में कितनी पंक्ति है यह दिया जाता था अथवा एक अनुष्टुप में कितने अक्षर होते हैं उनको माप (standard) मान कर इस ग्रन्थ में कितने अनुष्टुप हो सकते हैं उनकी संख्या दी जाती थी। इस प्रकार की छंद संख्या से बड़ा लाभ था। प्रतियाँ विभिन्न प्रकार के आकार के कागज, विभिन्न मोटाई के कलम तथा विभिन्न लिपि में लिखी जाती थी। अतः एक ही ग्रन्थ की प्रतियाँ विभिन्न आकार प्रकार की हो सकती है। अब कैसे जाना जाय कि इन प्रतियों में पाठ-वृद्धि अथवा पाठ-ह्रास नहीं हुआ। अनुष्टुप श्लोकों की संख्या द्वारा प्रत्येक प्रति में कुल कितने अक्षर हैं यह जाना जा सकता है। अब यदि दो प्रतियों के अक्षर लगभग बराबर हैं तो यह निश्चय हो जाता है कि पाठ वृद्धि अथवा पाठ-ह्रास नहीं हुआ है। यदि दोनों प्रतियों की अक्षर संख्या में विशेष अन्तर है तो सन्देह का बड़ा भारी स्थान है।

बहिरंग परीक्षा का उद्देश्य—बहिरंग परीक्षा का उद्देश्य प्रमुख रूप से दो बातों का अनुसंधान है।

(क) प्रस्तुत ग्रंथ कहाँ तक प्रतिलिपिकार द्वारा प्रस्तुत (अपने प्रामाणिक रूप में है, और

(ख) प्रतिलिपिकार ने जो रूप प्रस्तुत किया है वह कहाँ तक प्रामाणिक है। उसमें तो जाल नहीं है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि इस बात का पता लगाया जाय कि प्रति कहाँ तक अपने मूल पाठ को सुरक्षित रख सकी है। यह संशोधनों के अध्ययन द्वारा हो सकता है। इन संशोधनों की परीक्षा होनी चाहिए। संशोधनों के विषय में पाठ-सुधार अध्याय में विस्तार से विवेचन किया गया है।

पाठ पुनर्निर्माण में बहिरंग परीक्षा का विशेष महत्व है। पाठ निर्माण करते समय पाठालोचक के सामने ऐसे स्थल आते हैं जहां उसे कई पाठांतरों में से एक को चुनना पड़ता है। यहाँ पर पाठ चयन करते समय पाठालोचक को अंतर्साक्ष्य के साथ बहिर्साक्ष्य की भी सहायता लेनी होगी। ऐसी स्थिति में वह वही पाठांतर स्वीकार करेगा जोकि अंतर्साक्ष्य के साथ ही बहिर्साक्ष्य की कसौटी पर ठीक उतरता हो। उदाहरणार्थ महाभारत के संपादन में संपादक ने जहाँ दो परम्पराओं में 'धिष्ठिता' तथा विष्ठिता पाठ था, संपादक ने धिष्ठिता स्वीकार किया क्योंकि अंतर्साक्ष्य के अतिरिक्त बहिर्साक्ष्य के अनुसार यह पाठ बतला देता है। कि 'धि' की विकृति 'वि' लिपि परिवर्तन के कारण हुई है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने जायसी कृत पद्मावत के पाठ संपादन में भी उसी पाठ को स्वीकार किया है जो बहिर्साक्ष्यानुमोदित सिद्ध हो सकते थे। जायसी के पद्मावत के संपादन में डॉ० गुप्त को ऐसे स्थल मिले जोकि चारों स्वतंत्र शाखा से प्रमाणित थे, किंतु फिर भी अंतर्साक्ष्य के आधार पर ठीक नहीं बैठते थे। यह स्थल कुछ शब्द विकृतियों के थे: जवौं, अनवानी अनवन आदि शब्द है। इसको डॉ० गुप्त ने जबहिं अनवानो तथा अनवन रूप में शुद्धकर स्वीकृत किया। यह संशोधन अंतर्साक्ष्य के साथ बहिर्साक्ष्यानुमोदित भी था। डॉ० गुप्त के अनुसार जायसी की मूल प्रति नागरी में थी, नागरी में व तथा ब में कोई विशेष अंतर न था। व को ब के नीचे बिंदी (व=ब) लगा कर लिखा जाता था। नागरी से उर्दू में प्रतिलिपि करते समय प्रतिलिपिकार ने ब के नीचे लगी बिन्दी का ख्याल नहीं किया जिससे जबहि, जवहिं हो गया और यही जवहि उर्दू लिपि की अपूर्णता के कारण जवौं हो गया। यही स्थिति अनवानी का अनबानो तथा अनबन का अनवन होने के पीछे भी है। पोस्टगेट के अनुसार तो कोई भी सुधार तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि बहिर्साक्ष्य इन परम्परागत पाठ के विकास को भी संशोधन से विकसित न सिद्ध कर दे।

इस प्रकार पाठ-निर्माण तथा पाठ-सुधार दोनों में ही बहिर्साक्ष्य का विशेष महत्व है।

प्रतियों की अंतरंग परीक्षा - पाठालोचक का उद्देश्य प्राचीनतम पाठ प्रस्तुत करना नहीं, वरन् कवि कृत पाठ प्रस्तुत करना है और कवि कृत पाठ प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक है कि वह कवि की भाषा-शैली, उसकी विचार धारा आदि का सम्यक अध्ययन करे, यह देखे कि जो पाठ हमें मिल रहा है वह लेखक कृत हो भी सकता है कि नहीं; कहीं कोई पाठ लेखक की विचारधारा का विरोध तो नहीं कर रहा है;

और वह प्रक्षिप्त तो नहीं है, कहीं अनावश्यक पुनरावृत्ति तो नहीं हो रही है, और कहीं बीच में लेखक द्वारा अपनाई गई छंद, गति आदि की अवहेलना तो नहीं होती है। इन सब दृष्टियों से प्रति की परीक्षा, प्रति की अंतरंग परीक्षा कहलाती है। प्रति की अंतरंग परीक्षा के आधार पर जो संभावना बनती है उसे अंतरंग संभावना Intrinsic Probability) या अन्तर्साक्ष्य की संज्ञा दी जाती है।

अन्तर्साक्ष्य वह साक्ष्य है जो पाठ विज्ञानी को लेखक की कृति के अध्ययन से प्राप्त होता है। यह साक्ष्य यह संकेत करता है कि ग्रन्थ लेखक किसी बात को प्राप्त रूप में लिख सकता है अथवा नहीं। किसी स्थल पर इस साक्ष्य पर विचार करते हुए हमें देखना होगा कि (१) लेखक का उपर्युक्त स्थल पर क्या आशय है तथा (२) इस आशय को उसने किस प्रकार प्रकट किया है। उपर्युक्त निष्कर्ष का आधार लेखक के ग्रंथ के शुद्ध अंशों के किए गए प्रयोग, भाषा-शैली विचारधारा आदि होते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि अंतसक्ष्यि का संबंध लेखक से सीधा होता है प्रतिलिपिकार आदि से नहीं।

पाठालोचक के सामने पाठ-निर्माण करते समय यह प्रश्न सबसे पहले आता है कि जिस पाठ का वह निर्माण करने जा रहा है वह पाठ कविकृत भी है या प्राचीनतम ही। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें कवि की समस्त विशेषताओं का ध्यान रखना होगा, तथा साथ साथ उनको प्रयोग और संदर्भ में भी देखना होगा। यदि यह पुनर्निमित पाठ अर्थहीन है, संदर्भ में बेमेल है, अथवा इसमें ऐसे प्रयोगों का बाहुल्य है जो कि कवि के समय में प्रचलित न थे अथवा कवि की भाषा शैली के विपरीत पड़ते हैं, छंद की गति-यति की गड़बड़ी के कारण पाठ भ्रष्ट करते हैं, अथवा स्थल विशेष पर की विचारधारा में व्यवधान उपस्थित करते हैं, तो संपादक को अधिकार है कि वह कह सके कि यह पुनर्निमित पाठ भ्रष्ट है। यदि यह अशुद्धि ऐसी है कि इसको दूर नहीं किया जा सकता तो इनको भ्रष्ट कहकर छोड़ देना होगा, किंतु अधिकांश स्थल पर ऐसा संशोधन सोचा जा सकता है जो व्याकरण, शैली, प्रयोग, भाषा, संदर्भ, आदि सभी दृष्टियों से ठीक बैठता हो। इस संशोधन को अन्तर्साक्ष्यानुमोदित कह सकते हैं।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने अन्तर्साक्ष्य के आधार पर पद्मावत, मानस, बीसलदेव रास के अनेक अंशों को प्रक्षिप्त ठहराया है।

उदाहरण के लिए पद्मावत को ६० छंद, द्वि ३, तृ० १, २, ३, च० १ प्रतियों में मिलता है, प्र १, २, ४, ५, ६, ७, प० १ प्रतियों में यह छंद नहीं मिलता है। इस छंद में पूर्ववर्ती मूल छंद के भाव दुहराये गए हैं—जैसे—

जो लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहि जों खेलहु आजू (६०.४)
झूलि लेहु नेंहर जब ताई। पुनिकत झूलन दे रहे साई (६० अ .३)
कत आवन पुनि अपने हाथा। कत मिलिके खेलब एक साथा (६०.३)

कत नैहरि पुनि आउन कत सासुर यह केलि। (६० अ. ८)

सासु नँनद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दासन सुसर न आवैं देहीं। (६०.७)

सासु नँनद के भौंह सिकोरी। रहब सँकोचि दुओं कर जोरे। (६०अ. ६)

और साथ ही पूर्ववत्ती मूल का छंद सभी प्रतियों में मिलता है इसलिए सिद्ध है कि ६० अ छन्द प्रक्षिप्त है।

इसी प्रकार पद्मावत की कुछ प्रतियों में निम्न छंद मिलता है—

रँगरेजिन बहु राती सारी। चली चोखि सो नाइन बारी

ठँठेरिनि चलीं बहु ठाठर कीन्हें। चली अहीरिनि काजर दीन्हें

गूजरि चलीं गोरस कै माती। तँबोलिन चली रंग बहु राती

चलीं लोहारिनि पैने नैना। भाँटिनि चली मधुर मुख बैना

गंधिनि चलीं सुगंधि लगाये। छीपिनि छीपइँ चीर रँगाए

मालिनि चलीं फूल ले गाँथे। तेलिनि चली फुलाएल माथे

कै सिंगार बहु बेसवा चली। जहँ लगि मूदीं बिगसीं कलीं

नटिनो जेमिनि ढोलनि सहनाइनि भेरिकारि।

निरतत तंत बिनोद सौं बिहँसत खेलत नारि॥

(पद्मावत १८५ अ) पृ०५६६

डा० माता प्रसाद गुप्त ने इस छंद को प्रक्षिप्त छँद माना है। उनका कहना हैं कि यह छँद प्रसँग की दृष्टि से अनावश्यक है। मूल के पूर्ववर्ती छंद में पद्मावती के साथ विश्वनाथ पूजन के लिए जाती हुई कई जातियों की कन्याओं का उल्लेख कवि ने किया है और उसी सूची को बढ़ाने के लिए प्रक्षेपकारों ने प्रस्तुत छँद को मूल में जोड़ने का प्रयत्न किया होगा। प्रस्तुत प्रक्षिप्त छंद में वेश्याओं तक को विश्वनाथ पूजन के लिए अग्रसर किया गया है, और पूजा को वातावरण को मूँदीं और बिगसीं कली कहकर दूषित किया है।

इसके अतिरिक्त बेसवा शब्द का प्रयोग भी यह सिद्ध करता है कि यह छँद जायसी कृत नहीं है क्योंकि जायसी ने सर्वत्र वेश्या के लिए बेसा शब्द का प्रयोग किया है बेसवा का नहीं।

इसी प्रकार डा० गुप्त ने मानस, पद्मावत आदि अनेक ग्रन्थों के अप्रामाणिक अँशों को अन्तर्साक्ष्य के आधार परही पकड़ा है, और मूल पाठ का अनुसंधान किया है।

अन्तर्साक्ष्य का महत्व पाठालोचन में सर्वाधिक है। बहिर्साक्ष्य से भी अधिक। पाठालोचन में वह पाठ जो बहिर्साक्ष्य से अनुमोदित नहीं है किंतु अँतर्साक्ष्य से अनुमोदित है, संभव है ठीक हो; किन्तु वह पाठ जो बहिर्साक्ष्य से अनुमोदित है किन्तु अन्तर्साक्ष्य

द्वारा नहीं, वह कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि पाठ अन्तर्साक्ष्य के और बहिर्साक्ष्य दोनों से संभावित है तब तो पाठ-वैज्ञानिक अधिक निश्चित होगा किंतु वह कोई भी पाठ ऐसा स्वीकार नहीं कर सकता है जो अन्तर्साक्ष्य का विरोध कर रहा हो। पाठ अन्तर्साक्ष्य से अनुमोदित होना ही है। हाँ, यदि अन्तर्साक्ष्य के साथ ही साथ वह बहिर्साक्ष्य से भी अनुमोदित होता है तो उसका महत्व निश्चित ही अधिक होगा। इस प्रकार सिद्ध है कि अन्तर्साक्ष्य का महत्व बहिर्साक्ष्य से अधिक है।

: ३ :

पाठ-विकृतियां और उनके कारण

मुद्रण कला के अभाव के कारण, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्राचीन ग्रंथ आज हमें हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही प्राप्त हैं। यह हस्तलिखित प्रतियां भी मूल ग्रंथ नहीं वरन् मूल ग्रंथ की प्रतिलिपि तथा प्रतिलिपि की प्रतिलिपियों के रूप में हैं। यह प्रतिलिपियां किसी मशीन द्वारा न होकर मनुष्यों द्वारा होती थीं। मनुष्य से त्रुटि होना स्वाभाविक है, अतः इन मनुष्यों द्वारा; जिन्हें प्रतिलिपिकार कहते हैं, उतारी हुई या प्रतिलिपि की हुई प्रति में अनेक त्रुटियां हो जातीं थीं और इस प्रकार प्रतिलिपियों में आदर्श का पूर्ण पाठ नहीं आता था। यही कारण है कि आज की प्राप्त प्रतियों में अनेकों अशुद्धियां मिलती हैं। चूंकि पाठ-विकृतियों का मूल दायित्व प्रतिलिपिकारों पर ही है, अतः आवश्यक है कि पाठ-विकृतियों के विवेचन के पूर्व प्रतिलिपिकारों के गुण-दोषों, क्षमताओं तथा कठिनाइयों पर थोड़ा विचार करें।

प्रतिलिपिकार शब्द अति प्राचीन है। प्रतिलिपिकार का सीधा-सादा अर्थ है प्रतिलिपि करने वाला। अवधेय है कि मूल लेखक भी अपनी प्रति की प्रतिलिपि करते समय प्रतिलिपिकार ही कहलाएगा किंतु प्रतिलिपिकार शब्द आज मूल लेखक के लिए प्रयुक्त नहीं होता; प्रतिलिपिकार वही कहा जाएगा जो मूल लेखक की प्रति की प्रतिलिपि या अन्य प्रतिलिपि की प्रतिलिपि करता है। प्रतिलिपिकार शब्द का प्रयोग प्राचीन है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों में, लेखों में इन्हें विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है। ई० पू० चौथी शताब्दी में इन्हें लिपिकार और लिबिकार कहते थे; सातवीं-आठवीं शताब्दी में इन्हें दिविरपति के नाम व पुकारा जाता था; बाद में ग्यारहवीं शती में प्रतिलिपिकारों के लिए कायथ शब्द का प्रयोग हुआ है जो आज एक विशेष जातिवाचक शब्द बन गया है। कई शिलालेखों में प्रतिलिपिकारों के लिए कर्षक और धर्मलेखिन शब्दों का भी व्यवहार हुआ है।

लिपिकारों ने प्रतिलिपि करने में अपने कष्ट का उल्लेख बड़े सजीव रूप में किया है। प्रतिलिपिकार कहता है—"पीठ, कमर और गर्दन आदि को भग्नावस्था में रखकर तथा मुख नीचा किए हुए, ग्रंथ को एक दृष्टि से देखते हुए प्रतिलिपि करना अत्यन्त कष्टप्रद है और ग्रंथ प्रतिलिपि करने का कर्तव्य पालन करना अत्यन्त कष्ट साध्य है।"

भग्नपृष्ठ कटिग्रीव स्तब्धदृष्टि रधोमुखम् ।
कष्टेन लिखितं ग्रन्थ, यत्नेन प्रति पालयेत् ।।

इस कष्टप्रद अवस्था में रहकर प्रतिलिपि करने से अशुद्धियाँ पाठ में आ जाना नितान्त स्वाभाविक है। ये प्रतिलिपिकार प्रायः किसी धनी के यहां वेतन पर रहते थे और इस कार्य से ही जीविका निर्वाह करते थे; तीर्थस्थानों पर भी प्रायः यह एकत्रित रहते थे और यदि किसी धनी व्यक्ति को किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ की प्रतिलिपि करानी हुई तो वह इन प्रतिलिपिकारों को थोड़ा धन देकर इनसे प्रतिलिपि करवा लिया करते थे। प्रतिलिपिकार्य अत्यंत कठिन और सावधानी सापेक्ष कार्य है, किन्तु प्रतिलिपि कराने वाला व्यक्ति यह चाहता है कि जिस ग्रन्थ की प्रतिलिपि वह धन देकर करा रहा है उस प्रतिलिपि में लेखक का या कवि के ग्रंथ का कोई अंश छूट न जाए। यदि प्रतिलिपिकार से प्रतिलिपि में किसी प्रकार की अशुद्धि हो जाती थी तो प्रतिस्वामी प्रतिलिपिकारों पर रुष्ट होता था, अतः प्रतिलिपिकार प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि मैंने ग्रंथ को जैसा देखा वैसी प्रतिलिपि कर दी। पाठ शुद्ध हो या अशुद्ध, इसमें मेरा दोष नहीं—

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा, तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा, मम दोषो न विद्यते ।।
अदृश्य भावान्मति विभ्रमाद्वा पदार्थ हीनं लिखितं मयात्र ।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं कोपं न कुर्युःखलु लेखकेषु ।।
मुनेरपि मतिभ्रंशो भीमस्यापि पराजयः ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मह्यं दोषो न दीयताम् ।।

प्रतिलिपि करने में कठिनता तथा अशुद्धियों की स्वाभाविकता के उपरान्त भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि कुछ प्रतिलिपिकार प्रतिलिपि करने में बहुत कम भूलें करते हैं। वे आदर्शप्रति (Exemplar) की यथावत प्रतिलिपि कर देते हैं, यहाँ तक कि आदर्श प्रति की अशुद्धियों को भी ज्यों का त्यों अपनी प्रति में उतार लेते हैं। दूसरी ओर कुछ प्रतिलिपिकार ऐसे भी होते हैं, जो प्रतिलिपि में आदर्श प्रति के पाठ को अपनी बुद्धि के अनुसार संशोधित करके, यत्र-तत्र थोड़ा परिवर्तन करके पाठ प्रस्तुत करते है। कुछ प्रतिलिपिकार ऐसे भी मिलेंगे जो अपनी विचार धारा, अपने संप्रदाय के विशिष्ट सिद्धान्त, मंतव्य, आदि को भी प्रतिलिपि करते समय जोड़ते चलते, हैं, और बीच-बीच में सुभाषितादि से पाठ अलंकृत करके प्रतिलिपि प्रस्तुत करते हैं। अतः यह देखना आवश्यक है कि आदर्श प्रतिलिपिकार कौन है? और इसके गुण और दोष क्या-क्या हैं?

मत्स्यपुराण के १८९ वें अध्याय में लेखक के गुणों का विवेचन करते हुए पुराणकार ने कहा है—

सर्वदेशाक्षर भिज्ञः सर्वशास्त्र विशारदः
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वैः

शीर्णोपेतान् सुसंपूर्णान् समश्रेणि गतान समान्
अक्षरान् वै लिखेद यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः
उपवाक्य कुशलः सर्वशास्त्र विशारदः
बह्वर्थ वक्त चाल्पेन लेखकः स्यात् भृगूत्तम्
वाक्याभिप्राय तत्वज्ञो देशकाल विभागवित्
अनाहार्ये नृपे भक्तो लेखकः स्याद् भृगूत्तम

इसी प्रकार 'चाणक्यनीतं' में लेखक का गुण निम्न बताया है—

सकृयुक्त गृहीतार्थो लघुहस्तो जिताक्षरः ।
सर्वशास्त्र समालोकी प्रकृष्टो नाम लेखकः ।।

राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में भी लेखक के गुणों पर विचार किया गया है—

सदः संस्कार विशुद्धयर्थं, सर्वभाषाकुशलः, शीघ्रवाक् चार्वाक्षर
इंगिताकार वेदी नाना लिपिज्ञः कविः लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात्

इस प्रकार मत्स्यपुराणकार काव्यमीमांसाकार ने 'सर्वद' शाक्षार भिक्षः सर्वशास्त्रा विशारद, उपवाक्य कुशल, वह्वर्यकला वाक्याषिप्राय तत्वज्ञो आदि लेखक के गुण माने हैं। इन्हीं लेखक के गुणों को बाद में विद्वानों ने प्रतिलिपिकार के गुण कह कह कर उद्धृत किया है, पर अवधेय है कि यह उपर्युक्त कथित समस्त गुण एक अच्छे मौलिक लेखक के लिये तो आवश्यक हैं पर प्रतिलिपिकार के लिए नहीं। प्रतिलिपिकार जितना अधिक ज्ञानी और पंडित होगा उतनी ही उससे पाठ-विकृति होने की अधिक सम्भावना है। यदि मूल लेखक ने कहीं कोई अशुद्धि की है, उसका छंद क्रम अशुद्ध है, अथवा छंदों में मात्राएँ आदि कम हैं, यदि ऐसी विशेषताओं वाली मूलप्रति की प्रतिलिपि उपर्युक्त गुण-सम्पन्न प्रतिलिपिकार को दी जाती है तो पर्याप्त सम्भावना इसी बात की है कि इन स्थानों को संशोधित करके ही वह प्रतिलिपि हमारे सामने प्रस्तुत करेगा। ज्ञानी प्रतिलिपिकार शायद ही ऐसा मिले जो मूल प्रति की समस्त विशेषताओं को अपनी प्रति में तथावत उतार ले। पद्मावत् के सम्पादन में डा० गुप्त को ऐसी अनेक प्रतिलिपियाँ मिली है जिनमें प्रतिलिपिकारों ने मूल लेखक के त्रुटित या असाधारण छंद उसको शुद्ध या प्रचलित रूप में रखकर पाठ प्रस्तुत किया है। जायसी कृत पद्मावत की मूलप्रति में बारहमासे का प्रारम्भ आषाढ़ मास से हुआ था किन्तु साधारणतः बारहमासे का वर्णन चैत्र से ही प्रारम्भ किया जाता है, अतः प्रतिलिपिकारों ने जायसी के बारहमासे के इस असाधारण क्रम को परिवर्तित कर चैत्र के बारहमासे का प्रारम्भ किया है। निश्चय रूप के कहा जा सकता है कि जिस प्रतिलिपिकार ने इस क्रम को परिवर्तित किया होगा वह ज्ञानी रहा होगा उसने काव्य ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा और उसे यह मालूम रहा होगा कि बारहमासे का प्रारम्भ चैत्र मास से होता है। अतः प्रतिलिपिकार ने पाठ-शुद्ध करने की भावना से कवि कृत पाठ विकृत कर दिया है।

इसलिए ऐसा ही प्रतिलिपिकार आदर्श माना जाएगा जो मूल प्रति की समस्त विशेषताओं को उसकी समस्त अशुद्धियों तक को भी अपनी प्रति में ज्यों का त्यों उतार ले। एक साधारण ज्ञान वाला साक्षर व्यक्ति भी अच्छा प्रतिलिपिकार सिद्ध हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास की पंक्ति 'सबसे भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापें जगत गति' प्रतिलिपिकार के सम्बन्ध में कहते हुए सहसा स्मृत हो आती है। यह पंक्ति प्रतिलिपिकार के गुणों के सम्बन्ध में पूर्णतया घटित होती है। जो प्रतिलिपिकार जितना ही मूढ़ होगा वह उतना ही अच्छा प्रतिलिपिकार सिद्ध होगा क्योंकि वह अपने मष्तिष्क का प्रयोग बिलकुल भी न करके अपनी आदर्श प्रति के पाठ को तथावत अपनी प्रति में उतारता जाएगा, उसमें संशोधन बिलकुल नहीं करेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आदर्श प्रतिलिपिकार वही है जो अपनी प्रति पर पूर्ण अन्धविश्वास रखता है, उसका यथासम्भव ठीक-ठीक अनुसरण करता है। मक्षिका स्थाने मक्षिका रखता है। परन्तु ऐसे प्रतिलिपिकार प्रायः कम मिलते हैं। वह शब्द लिखते हैं, अक्षर नहीं अर्थात् वह अपनी अर्थात् प्रति से थोड़ा सा पाठ पढ़ लेते हैं और उसे अपनी प्रति में लिख लेते हैं, फिर थोड़ा-सा पढ़ लेते हैं और लिख लेते हैं। इससे कहीं-न-कहीं पाठ में अन्तर आ ही जाता है। मूढ़ पुरुष अच्छी प्रतिलिपि उतार सकता है क्योंकि प्रतिलिपि करते समय वह अपनी बुद्धि काम में नहीं लाता है और केवल अपनी आदर्श प्रति को सब कुछ, सबसे अधिक प्रामाणिक समझता है जो प्रतिलिपिकार अपने आदर्श के छूटे हुए अथवा त्रुटित पाठों को भी ज्यों का त्यों छोड़ देता है, उन्हें पूरा करने अथवा शुद्ध करने का प्रयत्न नहीं करता, जो अपनी प्रति में आदर्श की मामूली सी मामूली अशुद्धि को भी रख लेता है, वही प्रायः विश्वसनीय माना जाता है। वही प्रतिलिपिकार आदर्श प्रतिलिपिकार होगा।

प्रतिलिपिकारों द्वारा सावधानी रखने पर भी पाठ विकृतियाँ होना नितान्त स्वाभाविक है। आज हमें ऐसी कोई भी प्रतिलिपि नहीं मिलती जो पूर्णतया शुद्ध हो और शत प्रतिशत मूल प्रति का पाठ दे। पाठालोचन की नींव इन्हीं अशुद्धियों अथवा पाठ-विकृतियों पर ही आधारित है। यदि ये पाठ-विकृतियां न होतीं तो पाठालोचन की आवश्यकता ही न पड़ती। इस प्रकार पाठालोचन के मूल में हम इन अशुद्धियों को मान सकते हैं। इन पाठ विकृतियों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि हम इनसे परिचित हों जिससे पाठ-निर्माण (Recension) तथा पाठ-सुधार (Emendation) में हम इन अशुद्धियों को दूर कर कवि के मूल पाठ तक पहुंच सकें।

जहाँ तक पाठ-विकृति अथवा विकृत पाठ की परिभाषा का प्रश्न है, हम कह सकते हैं—

"उन समस्त पाठों को विकृत-पाठ की संज्ञा दी जाएगी, जिनके मूल लेखक द्वारा लिखे होने की किसी प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती, और जो लेखक की भाषा-शैली और विचारधारा के पूर्णतया विपरीत पड़ते हैं।"

विद्यमान पाठों (Extant mss) में यह विकृतियाँ बड़े महत्व की होती हैं, और इन्हीं पाठ-विकृतियों के आधार पर पाठालोचक कवि के मूल पाठ-निर्धारण में सक्षम होता है।

पाठ-विकृतियों के वर्गीकरण तथा उनकी प्रकृति के विषय में कहने से पूर्व कुछ बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम तो इन विकृतियों का कोई निश्चित वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। द्वितीय इन विकृतियों के मनोविज्ञान की ओर संकेत तो किया जा सकता है पर निश्चित रूप से उसका उद्‌घाटन नहीं किया जा सकता है, और अन्त में जैसा कि जेब्र ने कहा है। इनकी निश्चित संख्या भी नहीं बताई जा सकती। प्रत्येक ग्रन्थ की, उसके प्रतिलिपिकार और लेखन सामग्री के आधार पर, नवीन विकृतियों का बराबर पता लग सकता है। इन उपर्युक्त सीमाओं को ध्यान में रखते हुए हम पाठ-विकृतियों के वर्गीकरण पर विचार करेंगे।

पाठ विकृतियों का सर्वप्रथम वर्गीकरण पोस्टगेट ने इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में प्रस्तुत किया था। इन्होंने पाठ-विकृतियों के दो वर्ग बनाये हैं—

(क) बाह्य विकृतियाँ (External corruptions)

(ख) अंतरंग विकृतियाँ (Internal corruptions)

(क) बाह्य विकृतियाँ (External corruptions)—बाह्य विकृतियों के अन्तर्गत उन समस्त-विकृतियों को लिया गया है जिनका सम्बन्ध लेखन-सामग्री से है। इस वर्ग के अन्तर्गत प्रति के पन्नों के फट जाने, उलट-पुलट हो जाने, पन्नों के खो जाने, स्याही फैल जाने तथा कीट-कष्ट के कारण जो विकृतियाँ हो जाती हैं उनका परिगणन कराया है। प्राप्त प्रतियों में इस प्रकार की पाठ विकृतियाँ हमें अधिकांश मात्रा में मिलती हैं। अधिकांशतः यह देखा गया है कि जितनी भी प्राचीन प्रतियाँ हैं सभी में पन्नों के जीर्ण-शीर्ण होने के कारण अनेक विकृतियाँ हो गई हैं। बीसलदेव रास की प्रतियों में भी अनेक पाठ-विकृतियाँ इसी प्रकार की हैं। बीसलदेव रास की शाखाओं से प्रतीत होता है कि इनका मूलादर्श अत्यंत छोटे पत्रों पर लिखा था। इन पत्रों पर आधे-आधे छंद लिखे थे। इन पत्रों के असावधानी के कारण क्रम परिवर्तन हो जाने से विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में छंद के आधे आधे अंशों का दूसरे छदों के साथ जोड़ हो गया है और इस प्रकार अनेक पाठ-विकृतियाँ नए छन्दों के रूप में उपस्थित हो गई हैं।

(ख) अन्तरंग विकृतियाँ (Internal corruptions)—अन्तरंग विकृतियों का सम्बन्ध लेखन-सामग्री से बिल्कुल नहीं है। लिपि भ्रम, अंक भ्रम, पुनरावृत्ति और शब्दों के गलत विभाजन आदि के कारण हुई पाठ विकृतियाँ अन्तरंग विकृतियाँ कहलाएँगी। अन्तरंग विकृतियाँ कई प्रकार की होती हैं और इन्हें कई दृष्टियों से विभिन्न वर्गों में रक्खा जा सकता है। जैसे पाठ विकृति के मूल में प्रतिलिपिकार की सचेष्टता के आधार पर (१) सहज (Involuntary) (२) सचेष्ट (Voluntary)

ग्रौर ग्रर्द्ध सचेष्ट (Semi Voluntary)। इसी को यदि हम चाहें तो सहज ग्रौर सचेष्ट दो ही वर्गों में रह सकते हैं। इसके ग्रतिरिक्त ग्रन्तरंग विकृतियों का वर्गीकरण विकृतियों के विभिन्न रूपों के ग्राधार पर भी हो सकता है जैसे, प्रक्षेप, ग्रंक भ्रम तथा वर्ण भ्रम ग्रादि। इसी प्रकार प्रतिलिपि के मनोविज्ञान के ग्राधार पर भी पाठ-विकृतियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। इस ग्राधार पर कत्रे ने ग्रन्तरंग विकृतियों के दृष्टि-प्रमाद ग्रौर मनोवैज्ञानिक दो भेद किये हैं। दृष्टि-प्रमाद के ग्रंतर्गत पाठ ह्रास तथा पाठ-परिवर्तन ग्रादि से सम्बन्धित पाठ-विकृतियाँ ग्राती हैं। मनोवैज्ञानिक विकृतियों का ग्राधार मस्तिष्क की ग्रादर्श के सोचने की प्रवृति में है। इसमें मस्तिष्क ग्रपनी विकृतियों को ठीक-ठीक पढ़ जाता है ग्रथवा ग्रादर्श के ग्रशुद्ध पाठ को भी ग्रन्दाज से ठीक रूप में पढ़ जाता है। ऐसी विकृतियाँ प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों (classies) की प्रतिलिपि में बहुत हो जाती हैं। यह विकृतियाँ इस कारण होती हैं कि प्रतिलिपिकार प्रतिलिपि करते समय प्रत्येक वर्ण की प्रतिलिपि नहीं करता वरन् प्रत्येक शब्द ग्रथवा ग्रर्ध पंक्ति की प्रतिलिपि करता है।

पाठ-विकृतियों का एक वर्गीकरण एफ० डब्ल्यू हॉल ने ग्रपने ग्रन्थ कम्पैनियन टु क्लैसिकल टेकस्ट्स में दिया है। हाल ने पाठ विकृतियों के तीन वर्ग बनाए हैं—

(क) भ्रम तथा उनको दूर करने के उपाय (confusious and attempts to make remedy them)

(ख) पाठ-ह्रास (Omissions)

(ग) पाठ-वृद्धि (Addition)

इन वर्गों के भी हाल ने उपवर्ग किए हैं।

(क) भ्रम तथा उनको दूर करने के उपाय

१. समान ग्रक्षर या ग्रक्षरों सम्बन्धी भ्रम

२. समान सादृश्य के कारण शब्दों का गलत लिख जाना

३. सूत्रों की गलत व्याख्या

४. ग्रशुद्ध समीकरण ग्रथवा पृथक्करण

५. शब्द रूपों का समीकरण ग्रौर समीपवर्त्ती रचना को प्रश्रय देना

६. ग्रक्षरों ग्रथवा वाक्यों का व्यत्यय

७. संस्कृत का प्राकृत या भाषा ग्रथवा प्राकृत का संस्कृत में गलत ढंग से प्रतिलिपित होना

८. उच्चारण परिवर्तन के कारण ग्रशुद्धि

९. व्यक्ति वाचक संज्ञाग्रों में भ्रम

१०. ग्रंक भ्रम

११. ग्रपरिचित शब्दों के स्थान पर परिचित शब्दों के प्रयोग

१२. प्राचीन शब्दों के स्थान पर नवीन शब्द रख देना।

१३. प्रक्षेप ग्रथवा ग्रज्ञात भाव से की गई भूलों का सुधार

(ख) पाठ-ह्रास

१. आदि-अन्त साम्य के कारण दो अक्षरों में किसी एक का लोप हो जाना

२. किसी प्रकार का साधारण पाठ-लोप

(ग) पाठ वृद्धि

१. परवर्ती अथवा पड़ोस के सन्दर्भ के कारण पुनरावृत्ति

२. पंक्तियों के बीच अथवा हाशिए पर लिखे पाठ का समावेश

३. मिश्रित पाठान्तर

४. सदृश लेख के प्रभाव के कारण पाठ-वृद्धि

पोस्टगेट के वर्गीकरण के अतिरिक्त पाठ-विकृतियों के जितने भी वर्गीकरण किए गए हैं सबमें पाठ-विकृतियों के केवल एक ही पक्ष को लिया गया है जो कि पोस्टगेट की अन्तरंग विकृतियों के वर्ग में समाविष्ट हो जाता है। उपर्युक्त सभी वर्गीकरण में (पोस्टगेट के अतिरिक्त) बाह्य-विकृतियों को छोड़ दिया गया है। पोस्टगेट ने भी विकृतियों पर तथा उनके रूपों पर विस्तार से विचार नहीं किया फिर पोस्टगेट के अतिरिक्त जो पाठ विकृतियों के विभिन्न वर्ग बनाए गए हैं वे भी पूर्णतया एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। इनकी सीमाएं एक दूसरे से घुली-मिली हुई हैं। एक वर्ग की पाठ-विकृतियों को यदि दूसरे वर्ग में रख दें तो उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस दृष्टि से भी पाठ विकृतियों के उपर्युक्त विभाजन वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरणों की त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए ही प्रसिद्ध पाठालोचक डा० माताप्रसाद गुप्त ने पाठ विकृतियों का एक अलग ही वर्गीकरण किया है और जिसमें पूर्व वर्गीकरण की कमियों से बचने तथा विशेषताओं के समावेश का प्रयत्न है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने पाठ विकृतियों के आठ वर्ग बनाये हैं—

(१) सचेष्ट पाठ-विकृति

(२) लिपि जनित

(३) लेखन सामग्री जनित

(४) भाषा जनित

(५) छंद जनित

(६) प्रतिलिपि जनित

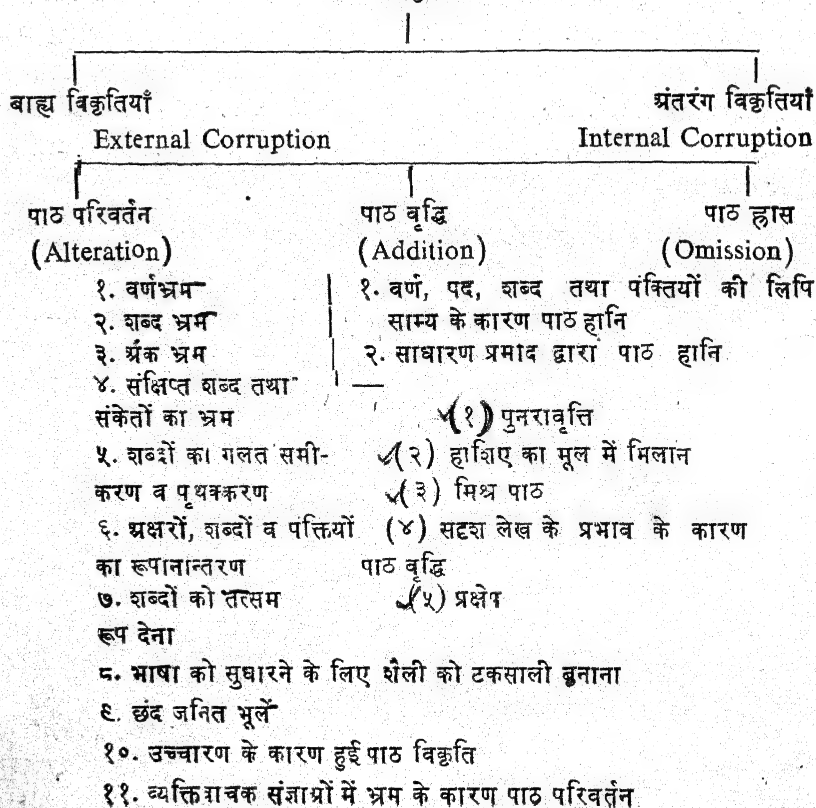
(७) प्रक्षेप जनित

(८) पाठान्तर जनित

डॉ० गुप्त के पाठ विकृतियों के वर्गीकरण में यद्यपि बाह्य विकृतियों का भी समावेश हो गया है जो हॉल आदि के वर्गीकरण में नहीं हो सका था किन्तु फिर भी डॉ० गुप्त द्वारा बनाए गए पाठ-विकृतियों के वर्ग पूर्णतया एक दूसरे से पृथक् नहीं है। एक वर्ग की पाठ-विकृतियां दूसरे वर्ग के अन्तर्गत सरलता से आ जाती हैं।

उदाहरणार्थ डॉ० गुप्त ने एक वर्ग सचेष्ट पाठ विकृतियों का बनाया है और एक वर्ग प्रक्षेप जनित पाठ-विकृतियों का। प्रक्षेप जनित भूले सदा सचेष्ट रूप में ही हुआ करती हैं, सहज रूप से प्रक्षेप जनित विकृतियों का आगमन नहीं हुआ करता। अतः इस प्रकार प्रक्षेप जनित भूलों को सचेष्ट पाठ-विकृति वाले वर्ग के अन्तर्गत ही रखना चाहिए था। इसी प्रकार भाषा को तत्सम रूप देने, भाषा को सुधारने के लिए शैली टकसाली रूप देने की प्रवृति तथा छंद जनित विकृतियाँ सभी सचेष्ट रूप से की गई होती हैं, इसलिए इन्हें सचेष्ट वर्ग के अन्तर्गत रखना चाहिए था जबकि डॉ० गुप्त ने इन्हें अलग-अलग वर्गों में रक्खा है।

यद्यपि डॉ० माताप्रसाद गुप्त का वर्गीकरण अन्य वर्गीकरणों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और तर्क संगत है फिर भी वह पूर्णतया त्रुटिहीन नहीं कहा जा सकता। इसलिए यदि निम्न रूप में पाठ-विकृतियों का वर्गीकरण किया जाए तो उसमें उपर्युक्त दोष कम मात्रा में आते हैं, पाठ-विकृतियों के सभी प्रकार भी समाविष्ट हो जाते हैं—



१२. अंत्यचिह्न का पाठ में स्वीकार
१३. सदृश या असदृश पर्यायों अथवा विपर्यायों में स्थानान्तरण
१४. स्मृति विभ्रम

उपर्युक्त वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक पाठ विकृति पर तथा उनके कारणों पर विस्तार से विचार करेंगे।

(अ) बाह्य विकृतियाँ(External Corruptions)—इस वर्ग के अन्तर्गत डॉ० माता प्रसाद गुप्त की लेखन सामग्री जनित विकृतियों के अन्तर्गत आने वाली पाठ-विकृतियों का समावेश होगा। प्रतियों में प्रायः ही, प्रतियों के पन्ने के उलट पुलट जाने, फट जाने, दीमक खा जाने, स्याही फैल जाने, नमी आदि के कारणों से विकृतियाँ हो जाती हैं। ऐसी विकृतियों को बाह्य विकृतियाँ कहते हैं। इन विकृतियों का संबंध प्रतिलिपिकारों से बिलकुल नहीं है। जितना ही ग्रंथ प्राचीन होगा, जितनी ही उसकी सामग्री शीघ्र विनष्ट होने वाली होगी, उतनी ही उसमें बाह्य-विकृतियाँ होने की अधिक संभावना रहेगी। उदाहरण के लिए यदि कोई ग्रंथ भूर्जपत्र या ताड़ पत्र पर लिखा गया है तो उसके पाठ में विकृतियों की संभावना कागज पर लिखे हुए ग्रंथ से कम ही रहेगी क्योंकि कागज ताड़पत्रों से अधिक शीघ्र खराब होता है। जितने समय तक ताड़ पत्र स्थायी रह सकता है कागज नहीं। कागज पुराना होने पर पीला पड़ जाता है, उसकी स्याही धूमिल हो जाती है और मुड़ने से या जरा सी असावधानी होने से वह टूट जाता है (इसी प्रकार शिलालेखों, ताड़पत्रों और लौह लेखों के पाठ के खराब होने की संभावना ताड़ पत्र भूर्जपत्र आदि से भी कम है क्योंकि इन पर मौसम का प्रभाव सबसे कम पड़ता है। यही कारण है कि शिलालेख आदि में उतनी पाठ-विकृतियाँ नहीं मिलती जितनी हस्तलिखित ग्रंथों में) पहले ग्रन्थ पत्रों पर लिखे जाते थे और उन्हें बाँधकर रख दिया जाता था। पत्र सिले नहीं जाते थे। इससे पत्रों के उलट पुलट जाने की संभावना, छन्द-क्रम में व्यक्तिक्रम होने की संभावना और एक छंद के एक भाग के दूसरे छंद के भाग से जुड़ जाने की पर्याप्त संभावना रहती थी। बीसलदेव रास की प्रति में तो इस प्रकार की विकृति मिलती ही हैं, जायसी के पद्मावत में भी इस प्रकार की विकृतियाँ पर्याप्त मिलती है। पद्मावत की तृ० ३ की प्रति में पत्रों के उलट पुलट जाने से विकृति हो गई है। जिल्द बंधाई की त्रुटियों के कारण कई पत्र अपने स्थान से हटकर लग गए हैं। इसी कारण से पद्मावत के ४४० वें छंद में अंतिम पाँच पंक्तियाँ छंद ४४५ की दुहरा दी गई हैं।

(आ) अंतरंग विकृतियाँ (Internal Corruptions)—इस वर्ग में वे विकृतियाँ आती हैं जिनका संबंध लेखन सामग्री से न होकर प्रतिलिपिकारों या मुद्रित ग्रंथों के संपादकों से है। इस वर्ग के अन्तर्गत पाठ-विकृतियों की एक बड़ी संख्या आती है। यह विकृतियाँ कभी सहज रूप से होती हैं, कभी सचेष्ट रूप से। अंतरंग विकृतियों

के कारण पाठ का पर्यवसान तीन दिशाओं में होता है इसलिए प्रमुख वर्ग इनके तीन हैं—

(क) पाठ-परिवर्तन (Alteration) इस वर्ग के अन्तर्गत उन विकृतियों की गणना होगी जो पाठ-लोप या पाठ-वृद्धि का कारण न बनकर पाठ-परिवर्तन का कारण बनती हैं। इस वर्ग में निम्न कारणों से हुई विकृतियों की गणना होगी।

१. वर्णभ्रम (Confusion of Letters)—प्रतिलिपि करते समय मिलते जुलते वर्णों में भ्रम तथा फलस्वरूप एक वर्ण के स्थान पर दूसरा वर्ण लिख जाने से पाठ-विकृति होना नितांत स्वाभाविक है। प्रतिलिपि यदि किसी साफ सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई प्रति से की गई तब तो इस प्रकार की विकृतियों की संभावना बहुत अधिक नहीं है किन्तु यदि किसी घसीट में लिखी हुई प्रति से प्रतिलिपि की गई तो इस प्रकार की पाठ विकृति स्थान स्थान पर मिलेगी। एक ही लिपि में कई ऐसे वर्ण होते हैं जिनमें भ्रम होने की संभावना प्रायः बनी रहती है। आधुनिक नागरी लिपि में ही ऐसे कई वर्ण हैं जिनमें भ्रम होने की अत्यधिक संभावना है। ये वर्ण म, भ, य, प, घ, ध, ब, व, र, क, हैं जिनमें प्रायः प्रतिलिपिकार विभ्रमित हुए हैं, महावीर चरित में अनेक विकृतियाँ नागरी लिपि संबंधित ही हैं जैसे—

स्थ > च्छ : स्वस्थाय > स्वच्छाय

ओ > आ : महादोसो > महादासो

च्य > प : वाक्यनिष्यंद > वाक्य निष्पंद

यदि हम किसी अन्य अपरिचित लिपि से प्रतिलिपि कर रहे हैं और यदि उसमें कुछ ऐसे अक्षर हों जोकि हमारी ज्ञातलिपि के अक्षर-चिह्नों से मिलते हों, (यद्यपि उनका उच्चारण भिन्न हो) तो इस बात की पर्याप्त संभावना है कि हम अपनी ज्ञात लिपि के अक्षर को उस स्थान पर रख दें। शारदा लिपि से अपरिचित लिपिकार से १७८३ की कश्मीरी पोथी (महाभारत) में इस कारण से ही अनेक अशुद्धियाँ हुई थीं। बीसलदेव रास की भी कुछ प्रतियों में अपरिचित लिपि से प्रतिलिपि करने के कारण अनेक विकृतियाँ हुई हैं। बीसलदेव रास की मूलप्रति राजस्थानी लिपि में थी और लिपिकार राजस्थानी लिपि से अपरिचित था। इसलिए उसने अनेक ऐसी विकृतियाँ की हैं जो यदि लिपिकार राजस्थानी लिपि से परिचित होता तो शायद न होतीं। अतः आवश्यक है कि संक्षेप में हम कुछ प्रमुख लिपियों के ऐसे लिपि चिह्नों को भी जानें जिनके वर्णों में हिंदी वर्णों से काफी समानता है और जिनके स्थान पर प्रतिलिपिकार वर्ण भ्रम के कारण हिंदी के वर्ण भी रख सकता है। नागरी लिपि के कुछ वर्णों से समानता रखने वाले विभिन्न लिपियों के लिपि चिह्न निम्न हैं—

शारदा लिपि

श = म	–	हिन्दी म के निकट
स = भ	–	हिन्दी म और भ के निकट
ष = थ	–	" ध के निकट
ख = गप	–	" प " "
च = म	–	" म " "
न = रुग	–	" ग " "

टाकरी लिपि

फ = ढ	–	हिन्दी ढ के निकट
ब = द	–	" द के निकट
ह = ३	–	" ३ " "

गुरुमुखी लिपि

घ = ਘ	–	हिन्दी य के निकट
प = ਪ	–	" य " "
फ = ਫ	–	" ढ के निकट
ब = ਬ	–	" घ " "

राजस्थानी लिपि

ह = [illegible]	–	हिन्दी ब के निकट
ध = घ	–	" घ " "
व = [illegible]	–	" व " "
अ = अ	–	" अ " "

कैथी लिपि

च = य	–	हिन्दी य के निकट
ष = [illegible]	–	" ध " "

राजस्थानी लिपि की मात्राओं में भी भ्रम होने की संभावना है । राजस्थानी में ए, ऐ, ओ, औ, की मात्राएँ पड़ी लगती हैं अतः भ्रम हो सकता है। उदा० के लिए राजस्थानी लिपि में मेरा की मात्रा ढमरा लगेगी। इस शब्द को ठमरा या ढमरा आदि भ्रम से पढ़ जाना स्वाभाविक ही है।

वर्ण भ्रम के कारण होने वाली पाठ-विकृतियां उस स्थिति में भी होना संभव है जब लिपि जिसमें आदर्श प्रति है, स्वयं अवैज्ञानिक हो और उसमें अनेक त्रुटियाँ होने की संभावना हो, जो लिपि प्रायः अनुमान से पढ़ी जाती हो। उसमें तो विकृतियाँ होना और भी स्वाभाविक है। उर्दू लिपि एक ऐसी ही लिपि है जिसमें शीघ्रतापूर्वक

लिखने पर प्रायः लोग शोशे और नुक्ते नहीं लगाते हैं और पढ़ते समय अंदाज से पढ़ लेते हैं। घसीट में लिखी हुई उर्दू तो पढ़ना और भी कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में कठिनाई यह होती है कि प्रतिलिपिकार साधारणतया बहुत पढ़ा लिखा तो होता नहीं है, उसे थोड़ा बहुत अक्षर ज्ञान होता है इसलिए पाठ की प्रतिलिपि करते समय प्रायः अर्थ की संगति और प्रसंग, सन्दर्भ आदि का वह ध्यान रखता नहीं है, अतः वह कुछ का कुछ पाठ पढ़ता जाता है और प्रतिलिपि करता जाता है। चूँकि ऐसी लिपि में शोशे और नुक्ते भी लोग नहीं लगाते इसलिए प्रतिलिपिकार को आदर्श प्रति के अक्षरों को देखकर यह शंका भी नहीं होती कि वह क्या लिख रहा है। इसी प्रकार कुछ लिपियाँ ऐसी भी हैं जिनमें अव्याप्ति दोष है, देवनागरी की सब ध्वनियाँ उनमें नहीं लिखी जा सकती है, अतएव उस विशिष्ट लिपि में प्रतिलिपि करने के लिए ध्वनियों को विकृत करना पड़ता है। गुरुमुखी ऐसी ही अव्याप्ति दोषयुक्त लिपि है। गुरु ग्रंथ साहब के पाठ में अनेक विकृतियाँ गुरुमुखी लिपि की अव्याप्ति दोषयुक्तता से ही हुई है। ऐसी विकृतियों का डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर ग्रन्थावली में विस्तार से विवेचन किया है। जैसे गुरुमुखी लिपि में 'य' नहीं होता अतः गुरुग्रन्थ साहब में 'य' के लिए सर्वत्र 'इ' का प्रयोग हुआ है—**माया>माइआ, लाया>लाइआ, काया>काइआ, रघुराया>रघुराइआ**। इसी प्रकार गुरुमुखी में मिलावट के अक्षर नहीं होते। अतः जहाँ अर्ध वर्णों की आवश्यकता है वहाँ भी वे वर्ण पूरे ही लिखे गए हैं। इस दोष के कारण भी गुरुग्रन्थ साहब में वस्तु>वसतु, भिस्ति>भिसति आदि।

वर्णभ्रम संबंधित अशुद्धियाँ हिन्दी ग्रन्थों में बहुत हुई हैं। उदाहरण के लिए कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

१. **न>ब :** बिनती एक राम सुनि मोरी
अब न नचाई राखि पति मोरी } > बिनती एक राम सुनि मोरी
अब न बचाई राखि पति मोरी

२. **र>न :** मैं सासरे प्रिय गौहनि आई>मैं सासने प्रिय गौहनि आई

—कबीर ग्रन्थावली : पारसनाथ तिवारी

३. **बे>पे :** बियापीउ>पिआपीउ (मधुमालती ४४६·७)

४. **चे>जीम :** उछाहा>उजाहा (मधुमालती ५३५·१)

(२) **शब्दभ्रम**—शब्दों की एकरूपता के कारण प्रतिलिपि करते समय शब्दों में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। यह विकृति सहज रूप से दृष्टि प्रमाद के कारण हुई पाठ-विकृति है। इस प्रकार की पाठ-विकृतियों के उदाहरण रामचरित मानस, पद्मावत, कबीर ग्रन्थावली आदि सभी में मिलते हैं। मानस में शब्द भ्रम होने से अनेक पाठ-विकृतियाँ हुई हैं—उदाहरणार्थ—

अधम>अधरम—बाढ़हि असुर **अधम** अभिमानी—शुद्ध रूप
बाढ़हि असुर **अधरम** अभिमानी—अशुद्ध पाठ

—**रामचरित मानस**

(३) **अंकभ्रम**—कोई अंक किस स्थल पर किस कारण लिखा हुआ है यह न समझ सकने के कारण भी प्रतिलिपिकारों ने अनेक पाठ-विकृतियाँ की हैं। पहले यदि एक शब्द को दो या तीन बार लिखना होता था तो उसके लिए शब्द लिखकर उसके बाद '२' या '३' अंक बना दिया जाता था। इन दो और तीन अंकों को कहीं तो प्रतिलिपिकारों ने दोहों की संख्या समझ लिया है और कहीं इन अंकों को बेकार समझकर निकाल भी दिया है। '२' को तो कभी-कभी प्रतिलिपिकारों ने 'र' भी पढ़ लिया है। अंक संबंधी भ्रम का सबसे सुन्दर उदाहरण पंचतंत्र की एक प्रति है। इसमें **मोविला** ३ एक स्थान पर लिखा हुआ है। यहाँ अंक '३' प्लुत वाचक है किन्तु प्रतिलिपिकारों ने इस '३' का अर्थ न समझकर कि यह प्लुत चिह्नवाचक है यह समझ लिया कि तीन का तात्पर्य मोविला शब्द का तीन प्रयोग है, अतः प्रतिलिपिकार मोविला ३ के स्थान पर मोविला मोविला मोविला लिख गए। किसी शब्द के उपरांत '२' का चिह्न पुनरावृत्ति तथा उदात्त दोनों का बोधक होता है। इसलिए बहुत संभव है कि जहाँ '२' चिह्न उदात्तवाची हो वहाँ प्रतिलिपिकार पुनरावृत्तिवाची समझकर दो बार लिख जाए। अंक भ्रम-संबंधी पाठ विकृत्ति मधुमालती में भी हुई है। मधुमालती की रामपुर वाली प्रति में एक स्थान पर पुनरावृत्ति सूचक '२' का चिह्न लगा हुआ है—

काहू के सीस जो चढ़ि २ बैठे। काहू के उर चाहहि पैसे ॥

यहाँ चढ़ि के बाद लगे हुए पुनरावृत्ति सूचक '२' को प्रतिलिपिकारों ने न समझकर हटा दिया है और इस प्रकार पाठ विकृति की है।

(४) **संक्षिप्त शब्द तथा संकेतों का भ्रम**—प्रायः बार बार आने वाले बड़े शब्दों को छोटा करके संकेत रूप में लिख दिया जाता है। उदाहरणार्थ दोहा के लिए दो० तथा चौपाई के लिए चौ० का प्रयोग प्रायः होता है। प्रतिलिपिकार कभी तो ऐसे संकेतों को मूल पाठ का अंश समझकर मूल पाठ में मिला लेते हैं तो कभी उन्हें निरर्थक समझकर बिल्कुल हटा ही दिया करते हैं। धार्मिक ग्रन्थादि में ऐसे संक्षिप्त शब्द तथा संकेत प्रायः मिलते हैं जिनको प्रतिलिपिकार ने भूल से मूल में मिला लिया है।

(५) **शब्दों का गलत समीकरण व पृथक्करण**—प्राचीन संस्कृत और हिंदी की प्रतियों में शब्द मिलाकर एक ही शिरोरेखा में लिखे जाते थे, खंड-खंड करके नहीं लिखे जाते थे, इससे एक शब्द के प्रारंभ का अक्षर दूसरे शब्द के अंत्य अक्षर से मिल जाता था। इसके साथ ही साथ प्राचीन ग्रन्थों में भी विराम के चिह्नों का प्रयोग भी प्रायः नहीं होता था। इससे विराम चिह्न के न होने से छंद विभाजन के अशुद्ध होने की संभावना तो थी ही, शब्दों के गलत विभाजन की और भी अधिक संभावना थी। हिंदी प्रतिलिपिकारों ने शब्दों को अलग-अलग कर लिखने की इच्छा से अनेक बार शब्दों का अशुद्ध विभाजन किया है।

डॉ० पारसनाथ तिवारी को कबीर के पाठ संपादन में अनेक ऐसी विकृतियाँ मिली हैं जो पदच्छेद की अशुद्धियों के कारण हुई हैं – उदाहरणार्थ—

१. जा वन में को लाकड़ी दाझत है वन सोय। > जा वन में कोला करी, दाझत है वन सोय।

२. ऊँडा चित अरु समदसा साधू गुन गंभीर। > ऊँडा चित अरु समंद सा, साधू गुन गंभीर।

—कबीर ग्रन्थावली

३. अहं वैश्वनरोभूत्वा > अहं वै श्वनरोभूत्वा —गीता

(६) अक्षरों शब्दों तथा पंक्तियों का स्थानान्तरण—प्रतिलिपि करने में अक्षरों शब्दों या पंक्तियों का स्थानान्तरित हो जाना एक सहज पाठ-विकृति है। इस प्रकार की स्थानान्तरण संबंधी पाठ-विकृतियाँ हस्तलिखित ग्रन्थों में बहुत हुई है। उदाहरणार्थ महाभारत के मूल पाठ में ज्ञानेनचान्यो लिखा हुआ था किन्तु ज्ञानेनचान्यो का न, च अक्षर स्थान्तरित होकर एक दूसरे के स्थान पर आ गये अर्थात् च की जगह न और न की जगह च लिख गया और इस प्रकार ज्ञाने च नान्यो हो गया। स्थानान्तरण संबंधी अशुद्धियों अक्षरों, शब्दों तथा पंक्तियों तीनों में होती है इसलिए इस पाठ विकृति को तीन वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

(क) अक्षर तथा अक्षरों का स्थानान्तरण

उदा०—तेहि पर रुचिर मृदुल मृगछाला, तेहि आसन आसीन कृपाला। > तेहि पर रुचिर मृदुरल मृगछाला, तेहि आसन आसीन कृपाला।

—मानस

इस अर्द्धाली में रुचिर शब्द का र स्थानान्तरित होकर मृदु के आगे लिख गया है जिसे रुचिर मृदुल के स्थान पर पाठ रुचि मृदुरल हो गया है।

(ख) शब्दांश अथवा पूरे शब्दों का स्थानान्तरण

उदा०—इदं वचनं अब्रवीत > वचनं तव इदमब्रवीत
तस्मिन काले सहत्वया > तस्मिन काले त्वया सह

पद्मावत में शब्दों के स्थानान्तरण से सम्बन्धित अनेक अशुद्धियां मिलती हैं। पद्मावत के १५३ वें दोहे की दूसरी पंक्ति का पाठ है—

आगि जो उपनी ओहि समुंदा। लंका जरी ओहि एक बुंदा॥
विरह जो उपना ओह उत गाढ़ा। खिन न बुझाय जगत तस बाढ़ा॥

पद्मावत की पाँच छह प्रतियों में आगि जो उपनी तथा विरह जो उपना को और गाढ़ा, बाढ़ा शब्दों को स्थानान्तरित कर दिया गया है। फलस्वरूप उक्त दोनों पंक्तियों का पाठ निम्नलिखित हो गया था—

विरह जो उपना ओहि समुंदा। लंका जरी ओहि एक बुंदा॥
आगि जो उपनी ओह उत बाढ़ा। खिन न बुझाय जगत तस गाढ़ा॥

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस स्थानान्तरण संबंधी पाठ विकृति को विषयानुसंगति की दृष्टि से पकड़ा और बताया कि यह पाठ मूल प्रति का पाठ नहीं है और इसमें शब्दों के स्थानान्तरित हो जाने से यह पाठ विकृति उपस्थित हो गई है क्योंकि विषयानुसंगति की दृष्टि से यह पाठ असंगत है; क्योंकि लंका-दहन आग से हुआ था, न कि विरह से और आग यत्न करने पर बुझ भी जाती है किन्तु विरह यत्न करने पर भी शान्त नहीं होता है।

(ग) पंक्ति अथवा पक्तियों का स्थानान्तरण

प्रायः प्रतिलिपिकार प्रतिलिपि करते समय किसी अथवा किन्हीं पंक्तियों की प्रतिलिपि करना भूल जाते हैं और प्रतिलिपि करने के बाद अथवा दोहराने के बाद यदि उन्हें इसका ज्ञान हो जाता है कि वे अमुक पंक्ति अथवा पंक्तियों की प्रतिलिपि करना भूल गए हैं तो वह पंक्ति को हाशिए में लिखकर जिस स्थान की पंक्ति होती है, उस स्थान पर काकपद या कोई ऐसा चिह्न बना देते हैं जिससे इस बात का पाठक को ज्ञान हो जाए कि अमुक स्थान पर प्रतिलिपिकार पाठ लिखना भूल गया था। अब यदि कोई दूसरा प्रतिलिपिकार उपरोक्त प्रकार की प्रति को आदर्श बनाकर प्रतिलिपि करता है तो बहुत संभावना रहती है कि वह जिस स्थान का पाठ छूटा हुआ है उस स्थान पर लगे हुए चिह्न को न देखे और इस कारण छूटी हुई पंक्ति अथवा पंक्तियों को यथोचित स्थान पर न उतारकर किसी अन्य स्थान पर उतार दें और इस प्रकार पंक्ति अथवा पंक्तियों का स्थानान्तरण हो जाए। इस प्रकार की विकृतियाँ यद्यपि ग्रन्थों में कम मिलती हैं पर इनका हस्तलिखित प्रतियों में पूर्णतया अभाव नहीं है। सूरसागर के एक पद में इस प्रकार का स्थानान्तरण हुआ है। सूर का एक पद है—

अनत सुत गोरस कौं कत जात।
घर सुरभी कारी धौरी को मांखन मांगि न खात।
दिन प्रति दिन सबै उरहने के मिस आवत हैं उठि प्रात।
अनलहते अपराधि लगावत विकट बनावति बात।
निपट निसंग विवादति सम्मुख सुनि सुनि नंद रिसात।
मोसो कहत कृपिन तेरे घर ढोटा हू न अघात।
करि मनुहारि उठाई गोद लै बरजति सुत को मात।
सूर स्याम नित सुनत उरहनो दुख पावत तेरो तात।

सूरसागर की कुछ प्रतियों में उपर्युक्त पद की चौथी पंक्ति सातवीं पंक्ति के बाद किंचित् पाठान्तर के साथ इस प्रकार मिलती है—

अनसमझे अपराध लगावति बकति बनावत बात

पंडित उमाशंकर जी शुक्ल के अनुसार विषयानुसंगति की दृष्टि से यह पंक्ति तीसरी पंक्ति के बाद ही होनी चाहिए। संभवतः हाशिए पर लिखी होने के कारण प्रतिलिपिकारों ने इसे गलत स्थान पर उतारकर पाठ विकृति की है।

(७) **शब्दों को तत्सम रूप देना**—यह सचेष्ट रूप से प्रतिलिपिकारों द्वारा की गई पाठ विकृति है। प्रतिलिपिकारों की प्रायः यह धारणा रहती है कि मूल लेखकों ने शुद्ध संस्कृत या तत्सम शब्दों का ही व्यवहार अपने ग्रंथ में किया होगा, और बाद में किसी प्रतिलिपिकार ने उस तत्सम शब्द को न समझने के कारण उसके स्थान पर प्रचलित या विकृत शब्द रख दिया होगा। इस प्रकार इस धारणा से प्रेरित होकर लेखक द्वारा प्रयुक्त प्रचलित शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्द को रख देते हैं। यथार्थ में वे यह नहीं जानते कि लेखक ने जनप्रचलित सरल शब्दावली का ही प्रयोग किया था और वे ही उन प्रयुक्त तद्भव या देशी शब्दों को तत्सम रूप देकर पाठ विकृति कर रहे हैं। पद्मावत आदि में इस प्रकार की अनेकों विकृतियाँ देखने को मिलती है। जायसी ने पद्मावत में प्रायः तद्भव शब्दों का प्रयोग किया था किंतु प्रतिलिपिकारों ने उन्हें तत्सम रूप दिया है। जैसे—**समुंद>समद्र; नैन>नयन।**

(८) **भाषा को सुधारने के लिए शैली को टकसाली बनाना**(New spelling substitued for old)—यह पाठ विकृति शब्दों को तत्सम रूप देने वाली विकृति-की ठीक उल्टी है। जहां एक वर्ग के प्रतिलिपिकारों की यह दृष्टि रहती है कि लेखक ने तत्सम शब्द का अपने ग्रन्थ में प्रयोग किया होगा, वहां कुछ प्रतिलिपिकार यह भी सोचते हैं कि लेखक ने जनप्रचलित शब्द का ही अपने ग्रन्थ में व्यवहार किया होगा अतः ऐसे प्रतिलिपिकार कठिन या तत्सम शब्दों के स्थान पर टकसाली शब्द या चलता शब्द रख देते हैं। यह सचेष्ट पाठ-विकृति है। इस प्रकार की अर्थात् टकसाली शब्दों के प्रयोग सम्बन्धी पाठ-विकृति प्रतिलिपिकार लेखक द्वारा प्रयुक्त कठिन तथा विशिष्ट शब्दों के अर्थ न समझने के कारण भी करते हैं। उदाहरणार्थ **'बुक आफ कामन पेपर्स'** में एक स्थान का मूल पाठ था **'टिल डेथ अस डिपार्ट'** किन्तु बाद के प्रतिलिपिकारों ने **'डिपार्ट'** के स्थान पर **'डू पार्ट'** को रखकर पाठ विकृत किया। इस पाठ-विकृति का मूल कारण यही है कि प्रतिलिपिकार डिपार्ट' के प्राचीन अर्थ को नहीं समझता था कि पहले **'पार्ट'** के अर्थ में ही **'डिपार्ट'** का प्रयोग होता था।

इस प्रकार पद्मावत के ४५वें दोहे की एक पंक्ति का पाठ है—

'गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं॥

यहाँ प्रयुक्त **'पब्बै'** शब्द प्राकृत का शब्द है जिसका अर्थ **'पर्वत'** होता है किंतु प्रतिलिपिकारों ने इस पाठ के अर्थ से अपरिचित होने के कारण इसका पाठ **'परबत'** **'पखै'** तथा किसी २ ने तो **'हस्ती'** तक कर दिया गया है।

(९) **छन्द जनित भूलें**—प्रतिलिपिकारों ने कवि के छंदों में मात्रा आदि अधिक होने पर, पिंगलशास्त्र के अनुसार रचना न होने पर, छन्द-क्रम आदि में त्रुटि होने पर, छन्दों की मात्राओं आदि को सुधार कर छंद दृष्टि से पाठ को उपयुक्त और आदर्श बनाना चाहा है और इस प्रकार छंद शुद्ध करने की दृष्टि रखते हुए भी उन्होंने

मूल पाठ विकृत किया है। भाषा ग्रन्थों में इस प्रकार की अनेक पाठ-विकृतियाँ प्रति-लिपिकारों ने की हैं। यह विकृतियां सचेष्ट विकृतियां हैं—

जायसी के अधिकांश दोहों में मात्रा आदि कम हैं। इसका कारण यही है कि जायसी ने छन्दों की मात्राओं आदि पर विशेष ध्यान नहीं दिया है, किन्तु प्रतिलिपि कारों ने मात्राओं को ठीक करके जायसी कृत दोहों के मूल रूप को विकृत कर दिया है।

उदाहरणार्थ जायसी कृत पद्मावत के ३८वें दोहे का पाठ है—

सेवरा खेवरा बान परस्ती, सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब जारि आतमा भूत॥

यहां दोहे के प्रथम चरण में मात्राधिक्य है जिससे छन्द दोष होता है। अतः प्रतिलिपिकारों ने इस दोहे को छंद दोष से मुक्त करने की इच्छा से 'बान परस्ती' के स्थान पर 'बान पर' और कहीं-कहीं 'बान सिख' कर दिया है, किंतु यद्यपि यह छंद मात्रा की दृष्टि से शुद्ध हो गया फिर भी कवि का मूल पाठ न देने की दृष्टि से पाठा-लोचन में यह छंद विकृत छन्द ही कहलाएगा, क्योंकि यह विकृत पाठ प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार पद्मावत का ४९वां दोहा भी है—

कुंवरि बतीसौ लकवनी अस सब माँह अनूप।
जाँवत सिंघल दीपइ सब बरबानर रूप॥

यहां तृतीय चरण में मात्राएं कम हैं। अतः प्रतिलिपिकारों ने 'सिंघल दीपइ' को 'सिंघल दीपमह', 'सिंघलदीपह करके तृतीय चरण की मात्राएं यद्यपि ठीक की है, किंतु कवि का पाठ न देने के कारण उन्होंने पाठ विकृति की है।

(१०) **उच्चारण भ्रम के कारण हुई पाठ-विकृति**—यह पाठ-विकृति बहुधा तब होती है जब प्रतिलिपिकार किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बोले गये पाठ को सुनकर लिखता है। उच्चारण भिन्नता के कारण इस प्रकार की विकृतियों का हो जाना नितांत स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए यदि कोई प्रतिलिपिकार किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बोले गए 'नयन' शब्द वाला कोई अंश लिख रहा है, तो बहुत सम्भावना है कि प्रतिलिपिकार 'नयन' न लिखकर 'नैन' शब्द लिख जाए, क्योंकि नयन और नैन दोनों शब्दों में ध्वन्यात्मक अन्तर बहुत कम है। इस ध्वन्यात्मक अन्तर के कारण महाभारत में विनंक्ष्यसि के स्थान पर विनंक्षसि लिख गया है। इसी प्रकार ऋतु के स्थान पर रितु लिख जाना भी दोनों शब्दों में बहुत कम ध्वन्यात्मक अन्तर के कारण ही संभव हुआ है।

(११) **व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भ्रम के कारण पाठ-विकृति**—अच्छी से अच्छी हस्तलिखित प्रतियों में भी व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भ्रम के कारण पाठ-विकृति

हुई हैं । हॉल ने अपने ग्रन्थ 'कम्पैनिअन टू क्लैसिकल टेक्स्ट' में इस प्रकार की अनेक विकृतियों का संकेत किया है । लैटिन ग्रन्थों की प्रतियों में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भ्रम होने के कारण 'बटी के स्थान पर बियटी cleomenes के स्थान पर clemens लिख गया है । इसी प्रकार एक प्रति में caudi के स्थान पर caudi प्रतिलिपिकारों ने लिखा है । हिंदी ग्रन्थों में इस प्रकार की विकृतियां कम ही मिलती हैं ।

(१२) **अत्यंचिह्न का पाठ में स्वीकार**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राचीन ग्रन्थों में शब्द सटा सटाकर लिखे जाते थे और बीच में ही विराम आदि अन्य चिह्नों का प्रयोग भी होता था । प्रतिलिपिकारों ने इन चिह्नों को न समझकर कभी कभी मूल पाठ में मिला लिया है और इस प्रकार पाठ-विकृति हुई है । बीसलदेव रास में इस विकृति का उदाहरण मिलता है । राजस्थानी ग्रन्थों में हाइफ़न का चिह्न खड़ी पाई के रूप में लगाया गया है । प्रतिलिपिकारों ने इन हाइफ़न के रूप में लगी हुई खड़ी पाइयों को आकार की मात्रा समझकर मूल पाठ जोड़ दिया है । उदाहरण–झल हल=झलाहल विजयानंद त्रिपाठी के मानस सम्पादन में इस प्रकार की अशुद्धि मिलती है । विजयानंद त्रिपाठी ने पूर्ण विराम चिह्न के रूप में लगी हुई खड़ी पाई को आकार की मात्रा समझकर पाठ-विकृति की है। उदाहरण—**लोक । > लोका; सोक । > सोका**

(१४) **सदृश या असदृश पर्यायों अथवा विपर्यायों में स्थानान्तरण**—प्रतिलिपिकार कभी कभी जान बूझकर किसी उपसर्ग या शब्द आदि के स्थान पर उसका पर्याय रखकर मूल पाठ विकृत कर देते हैं । पर्याय के साथ ही विपर्यायों का प्रयोग कर भी प्रतिलिपिकारों ने पाठ भ्रष्ट किया है । संस्कृत ग्रन्थों में विशेषकर महाभारत में इस प्रकार की अशुद्धियों बहुत हुई है । महाभारत में हुई इस प्रकार अशुद्धियों के कुछ उदाहरण–सुकथंकर ने प्रस्तुत किए हैं । जैसे—

अधिगच्छ दिशम् पूर्वाम्>अभिगच्छ दिशम् पूर्वाम्
नरेश्वर>नरोत्तम, नराधिप, नरर्णय
निश्वसन्तं यथा नाग>श्वसन्तं यथापन्नगम्

हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों में भी इस प्रकार की पाठ-विकृतियां मिलती हैं—

सुमिरत **समन सकल** जगजाला>सुमिरत **सकल समन** जगजाला

(१५) **स्मृति विभ्रम**—प्रतिलिपिकार कभी-कभी प्रतिलिपि करते समय, यदि मूल ग्रन्थ के पाठ के समान ही अन्य कोई पाठ उनकी स्मृति में रहा तो उस समान पाठ को ही मूल पाठ के स्थान पर लिख जाते हैं । इस प्रकार की विकृतियाँ स्मृति-विभ्रम के कारण होती है । यह सहज विकृतियां हैं और दृष्टि प्रमाद संबंधित हैं । प्रतिलिपिकार सचेष्ट रूप से ऐसी विकृतियां नहीं करते हैं । महाभारत में सुकथं

कर महोदय को स्मृति-विभ्रम के कारण हुई अनेक अशुद्धियाँ मिली थीं। जैसे—

वश्येन्द्रियम जितायात्यम > वश्येन्द्रियम जितात्मानम्

प्रतिलिपिकारों ने **जितामात्यम** के स्थान पर **जितात्मानम** लिख दिया है। यह विभ्रम पहले के छंदों में प्रयुक्त **विजितात्मा** और **अजितात्मा** शब्दों के स्मृति में होने से हुआ है।

(ख) **पाठ-वृद्धि** (Addition)—

पाठ-वृद्धि वर्ग के अन्तर्गत उन विकृतियों को रक्खा गया है जो विशेष रूप से पाठ-वृद्धि का कारण बनती है। इस वर्ग के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्न विकृतियाँ आती हैं—

१. **पुनरावृत्ति** (Dittography)—

इसके अन्तर्गत शब्दों या पंक्तियों का दो या अधिक बार लिखा जाना है। प्रायः ही प्रतिलिपिकार दृष्टि प्रमाद के कारण शब्दों को और पंक्तियों को दो बार लिख जाते हैं। यह सहज पाठ विकृति है और ग्रन्थों में यह विकृति अनेक स्थानों पर हुई है। कुछ उदाहरण इस विकृति के निम्न हैं—

हास्य रूपेण शंकरः > हाम्य हाम्य रूपेण शंकरः

कबीर की दाइ पंची प्रति में कबीर की निम्न साखी

सतगुरु साँचा सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही भैं मिलि गया पड़्या कलेजे छेक॥

दो स्थानों पर शब्दशः एक ही रूप में मिलती है। डा० पारसनाथ तिवारी ने बताया है कि 'कबीर साहब की शब्दावली' पुस्तक में जो बेलवीडियर प्रेस से प्रकाशित हुई है उसमें १६ पद ऐसे हैं जो दो स्थान पर आते हैं।

२. **हाशिए का मूल में मिलान** (Incorporation of Marginalia)—

कभी-कभी प्रतियों में हाशिए पर अन्य प्रतियों के पाठान्तर, पाठ के अर्थ, तुलना के लिए कोई पाठ, किसी विशेष छंद आदि के लक्षण दिए रहते हैं। प्रतिलिपिकार कभी कभी हाशिए पर लिखे हुए इन पाठों को मूल पाठ का छूटा हुआ अंश समझ कर अपनी प्रति में मूल पाठ के साथ उतार लेते हैं। इस प्रकार से हुई पाठ विकृति 'हाशिए में मूल का मिलान कही जाती है। अंग्रेजी में इस प्रकार की विकृतियों को Adscript भी कहते है। इस प्रकार की पाठ-विकृतियाँ ग्रन्थों में बहुत मिलती हैं। रासो के रेवातट समय में कंठ शोभा छंद का लक्षण संभवतः हाशिए से ही आया है। संदेशरासक की भी कुछ प्रतियों में ऐसे छंद मिलते हैं जिनमें छंदों की परिभाषाएँ दी हुई है। पाठ-वैज्ञानिकों का विचार है कि किसी लिपिकार या प्रतिस्वामी ने अपने अध्ययन के लिए प्रयुक्तछन्द आदि के लक्षण हाशिए में लिख लिए होंगे पर बाद में किसी लिपिकार ने हाशिए की इस छंद-लक्षण सामग्री को संदेशरासक का छूटा हुआ पाठ समझकर मूल में मिला लिया होगा, और इसी कारण छंदलक्षण

भी संदेशरासक की कुछ प्रतियों में मूलपाठ के रूप में मिलने लगा। इसी प्रकार कभी कभी बिलकुल सदृशपाठ दो भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न स्थान पर मिलता है। यह अत्यवस्था भी हाशिए के पाठ को गलत स्थान में लिख लेने के कारण ही देखी जाती है।

३. **मिश्र पाठ** (confleted Readings)—

अक्सर प्रतियों के मिलान में विभिन्न शाखाओं की प्रतियों का मिलान हो जाता है। इस पाठ मिलान के मूल में अधिक से अधिक अथवा पूर्णपाठ प्राप्त करने की भावना काम करती है। इन भिन्न-भिन्न शाखा की प्रतियों के मिलान से दूसरी शाखा के अतिरिक्त पाठ भी प्रतियों में आ जाते हैं और मूल पाठ विकृत होता है।

(४) **सदृश लेख के प्रभाव के कारण पाठ वृद्धि**—कभी कभी प्रतिलिपि की जा रही रचनाओं से मिलती जुलती अन्य रचनाएँ भी होती हैं। प्रतिलिपिकार इन समान रचनाओं के कुछ प्रसंगों को कभी-कभी मूल रचना से मिला देते हैं जो पाठ-वृद्धि का कारण बनती हैं। इस प्रकार से हुई पाठ विकृति यद्यपि बहुत कम मिलती हैं पर इस प्रकार की विकृतियों का पूर्णतया अभाव भी नहीं है। मधुमालती में इस प्रकार की अशुद्धियाँ मिलती हैं। जिनसे पाठ-वृद्धि हुई है। मधुमालती में बीच-बीच में कथाओं के प्रसंग आए हैं। कवि ने तो कहानियों के आवश्यकता भर अंश ही लिए थे पर बाद के प्रतिलिपिकारों ने कहानी को पूर्ण कर पाठ विकृति की है।

(५) **प्रक्षेप**—प्रक्षेप एक प्रकार की सचेष्ट पाठ-विकृति है और इससे सदैव पाठ-वृद्धि ही हुआ करती है। प्रतिलिपिकारों और प्रतिलिपियों की सदैव यह इच्छा रहती है कि वह ग्रन्थ को चमत्कृत और पूर्णरूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करें। इस कारण से वह पाठों में अनेक प्रकार की पाठ वृद्धियाँ करते हैं। उदाहरण के लिए यदि मूल पाठ में कोई अंश छूटा हुआ है या कोई वर्णन पूरा नहीं है तो प्रतिलिपिकार उन छूटे हुए अंशों की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार वे अनेक प्रक्षिप्त अंशों का मूलपाठ में समावेश करते हैं। कभी-कभी प्रतिलिपिकार या संशोधक मूलपाठ में सुभासितों या सदुक्तियों का प्रयोग कर देते हैं, और कभी-कभी यदि प्रतिलिपिकार या प्रतिस्वामी किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या दार्शनिक मतवाद का मानने वाला हुआ तो वह मूलपाठ में इस धारणा से कि किसी महान कवि को अपने सम्प्रदाय का सिद्ध कर देने से अपने सम्प्रदाय का महत्व बढ़ेगा, विशिष्ट सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों और मतों को भी जोड़ देते हैं। इस प्रकार के प्रक्षेप संस्कृत ग्रन्थों में अत्यधिक मिलते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि प्रक्षेप में पाठ-लोप भी हुआ करता है किन्तु यह सत्य नहीं है। प्रक्षेप में अंश जोड़े ही जाते हैं निकाले नहीं जाते और फिर भारतीय

---

१. देखिए—प्रक्षेप शब्द की व्युत्पत्ति
प्रक्षेपः – प्र + क्षिप + घत्र
प्रक्षेपरंग—प्र + क्षिप + ल्युट। प्रकर्णेण क्षेपः निक्षेपणम्
—शब्दकल्पद्रुम-पृ० २४५

Interpolation.
आन्तरिक रूप से मिलाना, मिलाना या चमत्कृत करना।

ग्रन्थों में तो चमत्कारार्थ लोप की स्थिति ही नहीं होती। भारतवासियों ने अपने यहाँ के बड़े से बड़े ग्रन्थ तक को कहा नहीं समझा। इसलिए उन्होंने पाठ लोप तो किया ही नहीं। सुकर्थंकर का कथन कि 'क्षेपक परम्परा से मिलाए जाते हैं निकाले नहीं जाते' भारतीय ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक विशिष्ट प्रवृति का संकेत करता है।

प्रक्षेप-सम्बन्धी पाठ-विकृतियों का दायित्व पूर्णतया प्रतिलिपिकारों के गले नहीं मढ़ा जा सकता। प्रतिलिपिकार भी प्रक्षेप करते हैं किन्तु मुख्य रूप से यह विकृतियाँ संशोधकों द्वारा ही होती हैं। प्रतिलिपिकार पाठ की प्रतिलिपि विशेष रूप से करते हैं, और संशोधक पाठ में क्षेपकों द्वारा सुधार करते हैं। पाठ संशोधक प्रायः जिस ग्रन्थ का संशोधन करते हैं उससे मिलते-जुलते पाठों से परिचित रहते हैं और इसी जानकारी के कारण वह अन्य रचनाओं के पाठों को मूल पाठ में समाविष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि लोकप्रिय और प्रसिद्ध कवियों के मूल पाठों में समवर्ती तथा परवर्ती अनेक कवियों के छंद यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं।

प्रक्षेप कई कारणों से हो सकते हैं जिनमें से कुछ प्रमुख कारणों से हुए प्रक्षेपों का हम नीचे वर्णन करेंगे।

(क) प्राप्त पाठों के विवरणों तथा उनकी सूचियों को अधिक सांगोपांग तथा पूर्ण बनाने के प्रयत्न—मूल पाठ के इतिवृत्तों, विवरणों और सूचियों को अधिक पूर्ण बनाने की इच्छा से अनेक प्रक्षेप किए गए हैं। उदाहरणार्थ महाभारत के दक्षिणी पाठ में गरुड़ की संक्षिप्त प्रशस्ति अतिरिक्त प्रशंसात्मक पंक्तियों को जोड़कर पूर्ण बनाई गई है। वशिष्ठ की कामधेनु, कपड़े, कम्बल और अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ देने वाली बताई गई है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के जिन प्रमुख अध्यायों की सामग्री सूर-सागर में नहीं थी उन सामग्रियों को जोड़कर सूरसागर को श्रीमद्भागवतीय परम्परा का ग्रन्थ बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(ख) कथाओं उद्देश्यों सम्भाषण की पूर्व कल्पना अथवा पुनरावृत्ति—किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किए गए प्रक्षेप हिन्दी और संस्कृत ग्रन्थों में बहुत मिलते हैं। कबीर, तुलसी आदि के पाठों में इस प्रकार के प्रक्षेप बहुत हुए हैं। उदाहरण के लिए कबीर का एक प्रक्षिप्त छंद है—

पूरणमासी आदि सुमंगल गाइए। सतगुर के पद परस परम पद पाइए॥
प्रथमहिं मंदिर झराइ के चंदन लिपाइए। नूतन बस्तर आदि के चंदवा तनाइए॥
पल्लव सहित सो कलश तहाँ धराइए। पाँच जोति के दीप सो तहां बराइए॥
गज मोतियन के चौक सो तहाँ पुराइए। तापर नारियर धोती मिष्ठान्न चढ़ाइए॥
तब सतगुरु के हेतु सो आसन बिछाइए। गुर के चरन पखार के आसन बिठाइए॥
केरा और कपूर सों बहु विधि लाइए। अष्ट सुगंध सुपारी सो पान चढ़ाइए॥

जलदल शील सुधारि के जोति बराइए। ताल मृदंग बजाइ के मंगल गाइए ॥
साधु संत मिलि आइके आरति उतारिए। आरति करि पुनि नारियर तंहवा पुराइए ॥
पुरुष को भोग लगाइ सखा मिलि पाइए। जग जग छुधा बुझाय तोपाय अखाइए ॥
परम आनंद जोहोइ तो गुरुहिं मनाइए। कहहिं कबीर सतकाम तो कोइ सिधाइए ॥

इसी प्रकार के अन्य अनेक छंद हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के मंदिर झड़ाना, नया बिस्तार लगाना, चंदवा तनाना, पल्लव सहित कलश-स्थापन, पाँच ज्योति वाला दीपक जलाना, मोतियों का चौक पुराना, उस पर नारियल धोती मिष्ठान आदि चढ़ाना अनेक प्रकार बाह्याचारों और कर्मकांडों का उल्लेख है तथा इनका पालन करने को कहा गया है।

प्रश्न उठता है कि कबीर हिन्दू और मुसलमानों के बाह्याचारों की कटु निन्दा करने वाले थे वह कथा कभी दूसरों को इस प्रकार से कर्मकांडों के पालन करने का उपदेश दे सकते हैं? संभव नहीं। अतः ये छन्द प्रक्षिप्त हैं और इन छन्दों को कबीर की मृत्यु के बाद कबीर पंथियों ने जोड़ा है बिना यह जाने हुए कि कबीर स्वयं बाह्याचारों का विरोध करने वाले थे।

जायसी कृत पद्मावत में इस प्रकार के अनेक प्रक्षेप हुए हैं जिनमें पुनरावृत्ति हुई है और इसी पुनरावृत्ति के कारण ज्ञात हो सका है कि यह छन्द प्रक्षिप्त है।

पद्मावत के ३८२-३८३ छन्दों में यात्रा विचार सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख किया गया है। छन्द ३८३ के अन्त में, दिशाशूल और योगिनी चक्रों का अलग-अलग विवेचन प्रस्तुत करने के उपरांत, कहा गया है—

यह गनि चक्र जोगिनी बाँचड़ चाहहु सिधिहोन

इस शब्दावली से ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने दिशाशूल सम्बन्धी प्रकरण को समाप्त कर दिया है किन्तु इन अतिरिक्त छन्दों में छन्द ३८२ के विचार किंचित परिवर्तन के साथ पुनः दुहराए गए हैं—जैसे छन्द ३८२ में कहा गया है—

अदित सूक पछिउ दिसि राहू। बिहफै दखिन लंक दिसि डाहू ॥

इसी तरह का विचार एक अतिरिक्त छन्द (३८३) में मिलता है—

अदित होइ उतर कहँ कालू। सोमकाल बाँयब नहिं चालू।
भौम काल पच्छिउँ कुध निरिता। गुरु दक्खिन औ सुक अगवउता।
पूरब काल सनीचर बरनै। पीठि काल देर चलै त हँसै।

अतः स्पष्ट है कि यह छन्द (३८३ आ) प्रक्षिप्त है।

रामकथा के इतिहास से भी ज्ञात होता है कि जब कृष्ण की रास लीला हिंडोल लीला और होलिकोत्सव का काफी प्रचार हो चुका था और कृष्ण की लीलाएँ काफी प्रसिद्धि पा चुकी थी तो रामकाव्य में भी इन्हें समाविष्ट किया गया है और कृष्ण की भाँति राम भी परम रसिक के रूप में चित्रित किए जाने लगे।

(ग) **दार्शनिक मतवादों के प्रक्षेप**—रामानुजी सिद्धांतों के अनुसार राम का ब्रह्मत्व निरूपित करने की दृष्टि से रामायण में ऐसे प्रक्षिप्त अंश मिलते हैं जिनमें रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत का व्याख्यान किया गया है।

(घ) **पूर्वापर विरोध को दूर करने की दृष्टि से किए गए प्रक्षेप**—भिन्न-भिन्न प्रक्षेपकार जब ऐसे प्रक्षिप्त पाठों का समावेश किसी पाठ में कर दिया करते हैं जो एक दूसरे के विरोधी होते हैं तो परवर्ती प्रतिलिपिकारों को ऐसे स्थल को समझने में कठिनाई होती है और इसलिए इस विरोध को दूर करने के लिए वह इनमें और अतिरिक्त पाठ जोड़ देता है। फलस्वरूप मूल पाठ में और नए प्रक्षिप्त अंशों का आगम होता है। बम्बई संस्करण के आदि पर्व में युधिष्ठिर की युवराज पद पर नियुक्ति और शुरू से युद्ध करने का प्रायश्चित इसी प्रकार के प्रक्षेप हैं।

(ङ) **नाटकों में अभिनेताओं द्वारा किए गए प्रक्षेप**—अक्सर अभिनेताओं ने नाटकों को रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त बनाने के लिए उसमें परिवर्तन किया है और अपनी ओर से उसमें अंश जोड़े हैं। इस प्रकार की अशुद्धि संस्कृत नाटकों में मिलती है। अधिकांश संस्कृत के नाटक रंगमंच की दृष्टि से असफल होता है, उनका अभिनय ठीक से यथावत नहीं किया जा सकता, इसलिए इन नाटकों को रंगमंच के अनुकूल बनाने के लिए कुछ अंश हटाए गए और कुछ अतिरिक्त अंश जोड़े गए हैं। कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तल में पाठ भेद का कारण सम्भवतः यही है कि अभिनेताओं ने उसे रंगमंच के योग्य करना चाहा है।

(च) **मूलपाठ की किसी कमी अथवा व्यवधान को दूर करने के लिए किए गए प्रक्षेप**—पाठ की किसी कमी (Lacuna) अथवा व्यवधान को दूर करने के उद्देश्य से भी प्रक्षेपों का आगमन होता है। कभी-कभी संशोधक या प्रतिलिपिकार मूल पाठ में प्रकार की कमी अथवा व्यवधान के न होते हुए भी कमी और व्यवधान की कल्पना कर क्षेपकों की अवतारणा करते हैं। जैसे पृथ्वीराज रासो में कवि ने युद्ध आखेट आदि का संक्षिप्त वर्णन किया था किन्तु बाद में उसको अधिक विस्तार देकर प्रक्षेपकारों ने पाठ-वृद्धि की है। महाभारत में पाठ-न्यूनता (Lacuna) के स्थलों की पूर्ति के कारण ही द्रुपद का जन्म भी द्रोण तथा कृप की भांति हुआ था ऐसा कहा गया है।

इस प्रकार ऊपर हमने प्रक्षेप के कुछ प्रमुख कारणों का उल्लेख किया है। प्रक्षेपों के कारण अनेक हो सकते हैं और सब प्रक्षेपों के पीछे क्या विशेष कारण था इसका भी निश्चित रूप से उल्लेख सर्वदा नहीं किया जा सकता, केवल संकेत ही किया जा सकता है कि अमुक कारण से यह प्रक्षेप हुआ है।

(ग) पाठलोप—पाठलोप के अन्तर्गत उन पाठ विकृतियों की गणना होगी जो सचेष्ट अथवा निश्चेष्ट रूप से पाठ-लोप का कारण बनती हैं। सचेष्ट रूप से

पाठ-लोप की स्थिति दो रूपों में आ सकती है। एक तो उस समय जब ग्रंथ बहुत बड़े आकार का हो और प्रतिलिपिकार संपूर्ण पाठ उतारने की अपेक्षा मुख्य मुख्य अंशों को ही चयन कर (सेलेक्शन्स के रूप में) उतार रहा हो, या दूसरे उस समय जब प्रतिलिपिकार मूल पाठ को अधिक चमत्कृत करने की दृष्टि से पाठलोप करे। उदाहरणार्थ यदि किसी महाकाव्य में कहीं वर्णनात्मक अंश काफी लम्बा हो गया हो वह काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से खटकता हो, रसात्मकता में बाधक सिद्ध होता हो, तब प्रतिलिपिकार ऐसे पाठ को छोड़ जाते हैं और इस प्रकार मूल पाठ का लोप होता है। परन्तु इस प्रकार के पाठलोप भारतीय ग्रन्थों में लगभग नहीं के बराबर हुए हैं। भारतीय ग्रन्थों में पाठ को चमत्कृत करने की दृष्टि से पाठ वृद्धि ही हुई है, प्रतिलिपिकारों ने और संशोधकों ने अतिरिक्त अंश जोड़े ही हैं, निकाले नहीं। सुकंथकर[1] का मत है कि भारतीय महाकाव्यों में चमत्कार की दृष्टि से कुछ अंश निकाले गए, यह समझना भारतीय भावना को ही गलत समझना है। भारतीयों ने किसी भी महाकाव्य को बहुत बड़ा या काव्य की दृष्टि से थोड़ी बहुत भी बेकार की सामग्री से युक्त नहीं समझा। इस प्रकार यद्यपि सचेष्ट रूप से भी पाठ-लोप हो सकते हैं; पर भारतीय ग्रंथों में प्रायः इस प्रकार के पाठलोप नहीं मिलते हैं। अधिकांश पाठलोप संबंधी विकृतियों निश्चेष्ट और सहज रूप से ही होती हैं। दृष्टि प्रमाद के कारण सहज रूप से पाठलोप होना एक साधारण बात हैं। अक्सर विद्यार्थी Philogy लिखने के स्थान पर Philogy लिख जाते हैं और प्रामाणिक के स्थान पर प्रमाणिक लिख लेते हैं। सहज रूप से पाठ-लोप दो कारणों के कारण होता है—

(१) लिपि साम्य के कारण अक्षरों शब्दों और पंक्तियों का लोप[2]—मानस की अनेक प्रतियों में लिपि साम्य के कारण अक्षरों और शब्दों के लोप होने से पाठ

1. The explanation that primarily with the very object of exeising what seems to us to be superflous or repetition matter, and abridgement might have been intentionally made in the past by some Kashmiri redactor a syndicate of redactors, would be a grotesque distortion of Indian literary and religious tradition, No one in the past found the epic text so long, far from it. It was perhaps not long enough. : Sukthanker : critical studies in Mahabharat.

2. When the similar letters stand to each other we have haplography—Katre ; Introduction to Indian Textual criticicism p.57 Haplography—A letter or syllable or word or words are written once instead of twice... This is generally due to the similar beginings or ending of words in the same context.

—Hall ; Companion to classical text, p. 189

ह्रास हुआ है। उदाहरणार्थ—

मानस का मूल पाठ था—

राम कृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माँहि

सं० १७२१ तथा सं० १७६२ की प्रतियों में रामकृपातें पारबति के स्थान पर कृपा के प और पारबति के पा में भ्रम हो जाने के कारण **पातें** का लोप हो गया है और रामकृपारबति लिख गया है।

इसी प्रकार मानस की एक अन्य चौपाई का पाठ था—

मरकत कनक बरन बरजोरी

पर सं० १७२१ और १७६२ की प्रतियों में मरकत कनक बरन बरजोरी के स्थान पर बीच के तीन अक्षर **न बर** छूट जाने से **मरकत कनक बरजोरी** लिख गया है।

(२) **साधारण लेखन-प्रमाद द्वारा पाठ-हानि**—साधारण लेखन-प्रमाद द्वारा हुए पाठ-लोप के उदाहरण हस्तलिखित ग्रंथों में बहुत मिलते हो जैसे-**प्रसवपांसन > प्रसवासन पाखण्ड कण्डीर > पाखण्डीर** आदि।

हिन्दी ग्रंथों में भी इस प्रकार की अनेक विकृतियां हुई है। मानस से हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

मानस में एक चौपाई का सामान्य पाठ था—रिस बस भूप चलेउ संग लागा' पर सं० १७६२ की प्रति में **बस** लिखने से पहले रह गया और रिस भूप चलेउ संग लागा लिख गया। इस प्रकार **बस** का पाठ लोप हो गया।

इसी प्रकार मानस की सं० १६६१ और सं० १७०४,१७६२ की प्रतियों में भी साधारण लेखन प्रमाद द्वारा बहुत पाठ हानि हुई है[1] जैसे—

समुझि बिबिधि बिनती अब मोरी > समुझि बिबिधि बिनती मोरी।

एक बार कुबेर पर धावा > एक बार कुबेर धावा।

सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ > सूर प्रतापी अतुल बल समेत प्रभु सोइ।

इस प्रकार उपर्युक्त पाठ-विकृतियों के वर्गीकरण और विवेचन से पाठ-विकृतियों के कारणों तथा प्रकारों पर प्रकाश पड़ता है; किन्तु अन्त में वर्गीकरण के संबंध में जेब के कथन को दुहरा देना असंगत नहीं होगा कि इन पाठ-विकृतियों का कोई निश्चित (Water tight) और पूर्ण वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता

1 Omission of letters, words and lives through simple negligence. Katre : Introduction to Indian Textual Criticism, p. 58
Simple omission of any kind.—Hall : Companion to classical Text, p. 190

है। और न इनकी निश्चित संख्या ही बताई जा सकती है। ग्रंथ, उसके प्रतिलिपिकार और उसकी लेखन सामग्री के आधार पर नवीन विकृतियों का बराबर पता लग सकता है।

पाठाविकृतियों का पाठालोचन में विशेष महत्व है। पाठ-विकृतियों के आधार पर ही हम प्रतियों का वर्गीकरण करते हैं, उनका वंशवृक्ष बनाते हैं और इन्हीं के आधार पर हम प्रतियों की सामान्य विश्वसनीयता का अनुमान लगाते हैं।

: ४ :

प्रतियों का वंश-वृक्ष-निर्माण

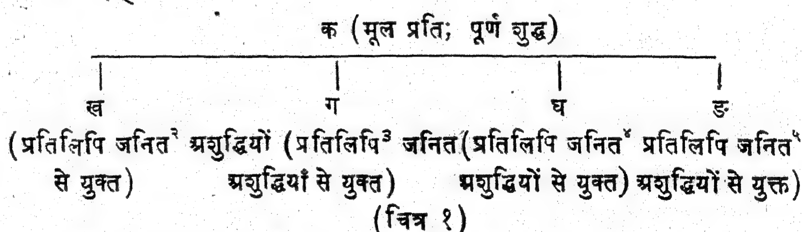
पाठालोचन का मूलाधार प्रतियों का संबंध-निर्धारण या वंश-वृक्ष-निर्माण है। यह कार्य कठिन और महत्त्वपूर्ण है। प्रतियों का यह संबंध उनके विकास की परम्परा को व्यक्त करने वाला होता है, और इसीलिए यह वंश-वृक्ष रूप में व्यक्त किया जाता है। एक बार सही वंश-वृक्ष-निर्माण कर लेने के बाद संपादन की समस्या बड़ी मात्रा में हल हो जाती हैं। सिद्धांत रूप में वंश-वृक्ष-निर्माण को समझना जितना सरल है, व्यवहार रूप में उतना ही कठिन भी है। तनिक से प्रमाद द्वारा पाठालोचक अपने पथ से भ्रष्ट हो सकता है, और पाठालोचन के आवेष्टन में पाठक को कवि के शुद्ध और सच्चे पाठ के स्थान पर विकृत और निकृष्ट पाठ दे सकता है। यही कारण है कि किसी भी संपादित ग्रंथ की प्रतियों के वंश-वृक्ष की सच्चाई की जाँच साधारण पाठक के लिये तो असंभव है ही, अन्य पाठालोचक के लिए भी बिना पूरी सामग्री की विस्तृत और पूर्ण परीक्षा के कठिन है। पंचतंत्र के वंश-निर्माण में ऐसी ही स्वल्प असावधानी के कारण हर्टल का पाठ मूल से न केवल दूर का ही हो गया, बल्कि यथेष्ट भ्रष्ट भी हो गया था। अतएव पाठालोचक का इस कार्य में उत्तरदायित्व गुरुतर है, और यह आवश्यक हैं कि वह अत्यंत सजग और सतर्क हो, तथा निष्पक्षता और वैज्ञानिकता को कभी भी न छोड़े।

प्रतियों का विकास-क्रम

प्रतियों के वंश-वृक्ष को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रतिलिपियों के विकास की प्रक्रिया को समझ लें। प्राचीन एवं मध्य युगीन ग्रंथ सामान्यतः भोज पत्र, ताड़-पत्र, कागज आदि नाशवान् सामग्री पर लिखे जाते थे। प्रेस के अभाव के कारण ग्रन्थों की एक सी प्रतिलिपियाँ आज की तरह सरलता से उपलब्ध नहीं होती थीं। ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ लिपिकार, लिखक या लिखिया द्वारा तैयार की जाती थीं। ये प्रतिलिपियाँ ग्रंथ उपलब्ध करने के लिए की जाती थी। यह कार्य श्रम, समय, और व्यय-साध्य था। प्रतिलिपि करने का कार्य कठिन और नीरस है। प्रतिलिपिकार साधारण शिक्षित होते थे। अतः यह स्वाभाविक ही है कि प्रतिलिपियों में अनेक अशुद्धियां स्वयंमेव ही आ जाती हो, और पाठ-शुद्धता में ये अपने आदर्श को बराबरी नहीं कर सकती होंगी। जैसे-जैसे इन प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ, और इन प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियों आदि होती गई

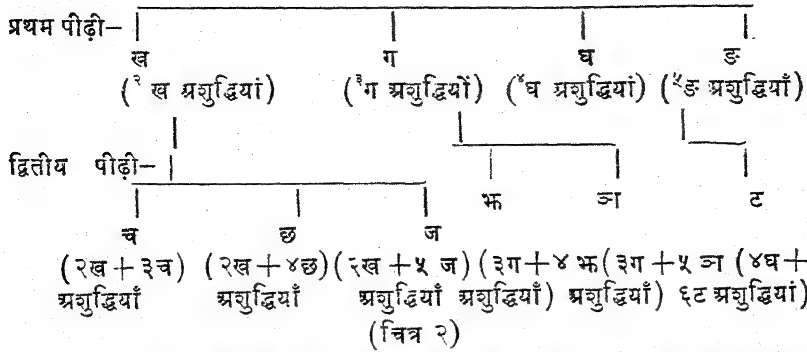
वैसे ही वैसे इनका पाठ अपने मूलादर्श से क्रमशः दूर, परिवर्तित एवं भ्रष्ट होता गया होगा। वर्तमान काल में प्राचीन एवं मध्ययुगीन शायद ही किसी कवि की स्वहस्त-लिखित प्रति उपलब्ध हो। सामान्यतः कवि की मूल प्रति की प्रतिलिपि परम्परा की काफी नीचे की प्रतियाँ ही हमें उपलब्ध हैं। ये प्रतिलिपियाँ अनेक अशुद्धियों से परिपूर्ण होती है और इन्हीं के आधार पर हमें कवि के मूल पाठ का पुनरुद्धार करना होता है। प्रतियों की प्रतिलिपियों का यह विकास-क्रम और उनमें निरन्तर वर्द्धमान अशुद्धियों के सरणि का ज्ञान एक उदाहरण द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है।

कल्पना कीजिए कि किसी कवि के किसी ग्रन्थ की उसकी स्वहस्तलिखित प्रति क है। यह पूर्णरूपेण शुद्ध है। कवि की प्रसिद्धि के साथ-साथ विभिन्न काव्य-रसिकों की इच्छा हुई कि उसकी प्रतिलिपियाँ अपने-अपने उपयोग के लिए कराएँ। ऐसे चार रसिकों ने विभिन्न समय पर विभिन्न प्रतिलिपिकारों द्वारा इसकी एक-एक प्रतिलिपि कराई। प्रतिलिपिकार, उनकी शिक्षा और मनोविज्ञान, तथा प्रतिलिपि के स्वरूप से अवगत होने के कारण हम यह जानते हैं कि ये चारों प्रतियां अपनी-अपनी अशुद्धियों से युक्त हो जाएँगी। संख्या और रूप की दृष्टि से ये अशुद्धियाँ प्रत्येक प्रतिलिपि में समान न होकर भिन्न भिन्न होंगी। क का प्रथम पीढ़ी में यह विकास-क्रम निम्नलिखित रूप में दिखाया जा सकता है। इसमें अशुद्धियों की सख्या कल्पित कर ली गई है :



(चित्र १)

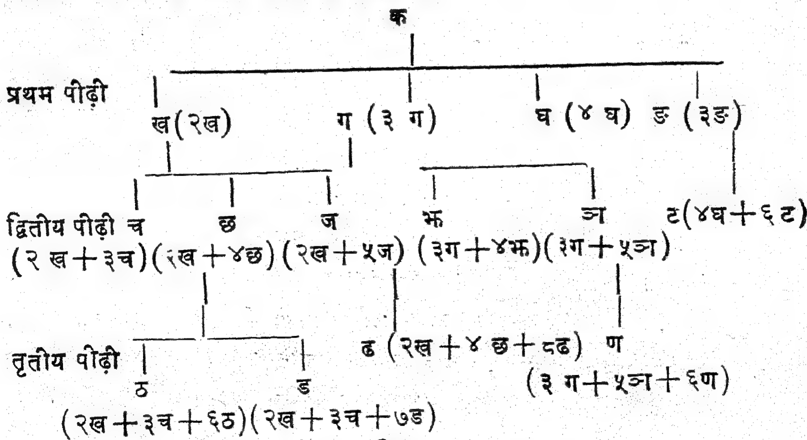
क की प्रतिलिपियाँ ख, ग, घ और ङ हैं। ख में अपने प्रकार की प्रतिलिपि जनित^{2} ग में अपने प्रकार की^{3}, घ में^{4} और ङ में^{5} अशुद्धियाँ हैं। कुछ काल के उपरांत, कवि की बढ़ती हुई ख्याति के कारण अन्य रसिकों में भी इस ग्रंथ के प्रतिलिपि रखने की इच्छा हुई। इनमें से तीन रसिकों ने विभिन्न प्रतिलिपिकारों से एक ख वर्ग एक-एक प्रतिलिपि च, छ और ज कराई, दो अन्य रसिकों ने ग प्रति से एक-एक प्रतिलिपि झ और ञ कराई; तथा एक रसिक ने घ प्रति से एक प्रतिलिपि ट कराई। ङ प्रति से किसी ने भी प्रतिलिपि नहीं कराई। पीछे दिए हुए तर्कों के अनुसार इन प्रतियों में अपनी-अपनी नवीन अशुद्धियाँ आ जाएँगी, पर साथ ही साथ प्रत्येक में अपने उपादर्श (ख, ग, घ) अशुद्धियाँ भी आ जाएंगी। इस प्रकार इस दूसरी पीढ़ी की प्रतिलिपियों में प्रथम पीढ़ी के पाठ से अधिक अशुद्धियाँ होंगी। उनका विकास-क्रम निम्नलिखित रूप धारण कर लेगा :



(चित्र २)

इस विकास क्रम को देखने से ज्ञात होगा कि दूसरी पीढ़ी की प्रतिलिपियों में अधिक अशुद्धियाँ हैं। प्रत्येक प्रतिलिपि में अपने उपादर्श की समस्त अशुद्धियों के अतिरिक्त अपनी-अपनी अशुद्धियां भी हैं। इस दूसरी पीढ़ी की प्रतियाँ च, छ, ज, का संबंध अपने उपादर्श ख से उनमें समान रूप से प्राप्त २ ख अशुद्धियों के द्वारा है; झ, ञ का संबंध अपने उपादर्श ग से दोनों में समान रूप से प्राप्त ३ ग अशुद्धियों के द्वारा है; और ट का अपने उपादर्श घ से संबंध उसमें प्राप्त ४ घ अशुद्धियों के द्वारा है। यहाँ पर च, छ, ज एक परिवार की, झ, ञ दूसरे परिवार की, तथा ट तीसरे परिवार की प्रतिलिपियां हैं। एक परिवार की प्रतिलिपियां दूसरे परिवार की प्रतिलिपियों से भिन्न हैं।

प्रतियों के विकास की एक और पीढ़ी के यदि हम कल्पना करें जिसमें च की की दो प्रतिलिपियां ठ और ड, छ की एक प्रतिलिपि ढ, तथा ञ की एक प्रतिलिपि ण होती है, तो उनमें अशुद्धियों के विकास-क्रम को, और क के संपूर्ण वंश-वृक्ष को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है :



चित्र ३

(कोष्ठों में प्रत्येक प्रति की अशुद्धियां दी हुई हैं)

इस प्रकार से प्रतियां मूल आदर्श से जितनी दूर होती जाएंगी, उनमें उतनी ही अधिक अशुद्धियों भी बढ़ती जाएँगी। प्रत्येक परिवार की प्रतियाँ अशुद्धियों की समानता के द्वारा एक दूसरे से संबंधित होंगी, और इन्हीं समान अशुद्धियों के द्वारा हमें एक परिवार या शाखा की प्रतियों का ज्ञान प्राप्त होगा। प्रतियों के इस विकास में व्यक्ति के वंश-विकास से समानता है। एक परिवार के व्यक्तियों में व्यक्तिगत विभिन्नता के साथ-साथ पारिवारिक समानता भी होती है जो कि सभी को पैतृक रूप से प्राप्त होती है : जैसे-जैसे नई पीढ़ियाँ विकसित होती जाती हैं, वैसे-वैसे पारस्परिक समानता कम और विषमता अधिक होती जाती है; तथा इसके विपरीत जैसे-जैसे हम ऊपर की पीढ़ियों की ओर उठते जाते हैं, वैसे-वैसे पारस्परिक वैषम्य कम तथा समानता अधिक होती जाती है। प्रतियों के विकास का भी यही क्रम है। उनमें यह समानता विशेषतः प्रतिलिपि जनित अशुद्धियों के द्वारा व्यक्त होती है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रतियों का प्रतिलिपि जनित अशुद्धियों के आधार पर व्यक्त पारस्परिक संबंध का चित्रण ही उनका वंश वृक्ष है।

आज हमें अधिकतर प्राचीन और मध्य युगीन ग्रंथ ऐसी ही कई पीढ़ियों नीची प्रतियों के रूप में प्राप्त हैं। फलस्वरूप इन प्रतियों में अनेकानेक अशुद्धियाँ भी होती हैं जिनके कारण इनका पाठ मूलपाठ से दूर का हो जाता है। प्रतियों के विकास क्रम की पुनर्स्थापना ही वंश-वृक्ष निर्माण है। इसमें हम प्रतियों के विकास-क्रम को नीचे से समान अशुद्धियों के द्वारा निर्मित करते हैं और प्राप्त प्रतियों का परस्पर संबंध-निर्धारण करते हैं। इस प्रकार किसी ग्रंथ की विभिन्न पीढ़ियों, शाखाओं तथा उपशाखाओं के विकास क्रम को उपलब्ध प्रतियों के अशुद्धि साम्य के आधार पर व्यक्त रूप को प्रतियों का वंश-वृक्ष कहते हैं। यह वंश-वृक्ष हमें प्रतियों के सापेक्षिक महत्त्व को निर्धारित करने, और पाठ-निर्धारण में सहायक होता है। यह संबंध-निर्धारण पाठालोचन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है और इसका विस्तृत विवेचन नीचे किया जा रहा है।

प्रतियों के वंश-वृक्ष-निर्माण की प्रक्रिया की तीन सरणियां हैं। इन्हीं के आधार पर वंश-वृक्ष का निर्माण होता है। ये निम्नलिखित हैं :—

(१) सामग्री का संग्रह और उसकी परीक्षा।

(२) सामग्री में उपलब्ध विशिष्टताओं का अध्ययन।

(३) संबंध-निर्धारण तथा वंश-वृक्ष-निर्माण।

सामग्री का संग्रह और उसकी परीक्षा—किसी भी ग्रंथ के संपादन के लिए तत्संबंधी सामग्री (मूल सामग्री रूप में हस्तलिखित प्रतियाँ, तथा सहायक सामग्री रूप में उद्धरणादि के ग्रंथादि) का संग्रह और उसकी परीक्षा आवश्यक है। पाठालोचक को सर्व प्रथम उस ग्रंथ की जितनी भी प्रतियां उपलब्ध हैं, उनका संग्रह करना होगा।

इन प्रतियों का ज्ञान और इनकी प्राप्ति—दोनों ही कठिन समस्या है। संस्कृत में आफ्रेक्ट का केटलॉगस केटलागोरम इसी कार्य के अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है। यह संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथों का विशाल कार्य सूचीपत्र है। हिन्दी में इस प्रकार का कोई ग्रंथ नहीं है। यथार्थ में हिन्दी का विशाल साहित्य बड़ी मात्रा में अज्ञात रूप में मंदिर मठ तथा व्यक्तिगत संग्रहालयों के बेठनों के भीतर छिपा पड़ा है। न तो उसका ज्ञान ही सभी को है, और न ही वह सरलता से उपलब्ध है। सन् १९०० ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हस्तलिखित ग्रंथों का कार्य प्रारंभ किया, और प्रारंभ में वार्षिक तथा बाद में त्रैवार्षिक रूप में उसका विवरण प्रस्तुत किया। यह कार्य अभी भी जारी है। बाद में खोज का यह कार्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना तथा अन्य संस्थाओं और श्री अगरचन्द नाहटा ऐसे विद्वानों द्वारा भी उठा लिया गया है। इनके पास जो ग्रंथ हैं वे अध्येताओं को सुलभ हैं। इनके अतिरिक्त भारतीय ग्रंथों का एक विशाल संग्रह लंदन की इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी और ब्रिटिश म्यूजियम में भी है। फिर भी हमारा अधिकतर साहित्य अभी भी अंधकार में पड़ा हुआ है और विनष्ट हो रहा है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने हिन्दी पुस्तक साहित्य में प्रकाशित पुस्तकों की सूची दी है। इतने समस्त कार्यों के बाद भी इस दिशा में अभी बहुत अधिक कार्य की आवश्यकता है। पाठालोचक को इन तथा अन्य सभी ज्ञात स्रोतों से सामग्री प्राप्त करनी होगी। यदि कुछ प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं तो उनकी प्रतिलिपियां या माइक्रोफिल्म प्राप्त करनी होंगी।

इस सारी सामग्री के संग्रह के बाद उसकी पूर्ण परीक्षा होनी चाहिए। प्रतियों की इस परीक्षा के संबंध में गत अध्याय में कहा जा चुका है। इस परीक्षा के आधार पर ही वंश-वृक्ष निर्माण और पाठ-निर्धारण का कार्य होना है : प्रतियों की यह परीक्षा कागज,लिपि, लेखन सामग्री, लेखन-प्रवृत्तियों आदि के द्वारा होती है। इस परीक्षा से प्रमाणित सामग्री को ही पाठालोचन का आधार बनना चाहिए। प्रतियों की प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता के निर्धारण में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए :—

(१) जिन शाखाओं की प्रतियों में भाषा तथा व्याकरण के प्राचीन रूप सुरक्षित हैं, वे इन शाखाओं की प्रतियों से अधिक विश्वसनीय हैं जिन में भाषा तथा व्याकरण के नवीन रूप प्राप्त हैं।

(२) उस शास्त्र की प्रतियाँ अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें रचयिता द्वारा स्वीकृत काव्य-शास्त्र की मान्यताओं का पालन किया गया है, उनसे जिनमें ऐसा नहीं है।

(३) जिस शास्त्र की प्रतियों में आदर्श के त्रुटित अंशों का उल्लेख है वे उन शाखाओं की प्रतियों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें ऐसा नहीं है, तथा जिनमें इसके स्थान पर पाठ दे दिया गया है।

(४) कम प्रक्षेपों वाली प्रतियां अधिक प्रक्षेपों वाली प्रतियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

(५) प्रत्येक शाखा की पूर्ववर्ती प्रति परवर्ती प्रति से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

(६) प्रतियों का मूल्य सामान्यतः उसकी प्राचीनता के अनुसार बढ़ जाता है। प्राचीनता का यह निर्धारण लिपि-शास्त्र आदि वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि सदैव यह आवश्यक नहीं है कि प्राचीन प्रति का पाठ ही मूल के निकट हो। यह संभव है कि कोई नवीन प्रति ऊपर की पीढ़ी की प्रतिलिपि हो, और इस प्रकार मूल पाठ के निकट हो, जबकि प्राचीन प्रति काफी नीचे की पीढ़ी की हो सकती है और इस प्रकार भ्रष्ट पाठ प्रदान करने वाली हो। अतएव प्राचीनता को महत्त्व देते समय सतर्क रहना चाहिए, अन्यथा प्राचीनता से प्रभावित होकर भ्रष्ट पाठ प्रस्तुत कर दिया जाएगा।

(७) प्रति में प्राप्त पाठ-रूप के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है। संपूर्ण पाठ एक ही लिपिकार का है या नहीं। पाठ के कई, आदर्श रहे हैं या एक। यदि पाठ के विभिन्न खंड विभिन्न आदर्शों से प्राप्त हुए हैं तो प्रत्येक खंड का आपेक्षिक मूल्यांकन करना होगा।

(८) प्रति का मूल पाठ क्या है? अकसर प्रति के मूल पाठ को काट कर, मिटा कर हरताल लगा कर नवीन और प्रचलित रूप दिया जाता है। पाठालोचन में यह परिवर्तित पाठ नहीं, प्रति का मूल पाठ उपयोगी होता है, और उसे ही प्राप्त करना चाहिए। जायसी ग्रंथावली के संपादन में परिवर्तित पाठ के नीचे प्राप्त प्रतिलिपिकार के मूल पाठ का ही उपयोग किया गया है।

(९) प्रति के प्राप्ति स्थान का भी महत्त्व होता है। इसके पीछे प्रति के मूल स्रोत की भावना कार्य करती रहती है। उदाहरणार्थ कुछ लोग कबीर के बीजक का पाठ तो कुछ ग्रंथ-साहब में सुरक्षित पाठ को प्रामाणिक मानते हैं। इसी प्रकार मानस की सोरों की प्रति—जो कि तुलसी ने अपने भतीजे को दी थी—की परंपरा के पाठ को कुछ लोग प्रामाणिक मानते हैं। प्रतियों के मूल्यांकन में पाठालोचक को इन साक्ष्यों का उचित उपयोग तो अवश्य करना चाहिए, किंतु जब तक कि समस्त साक्ष्य एक ही ओर संकेत न करें, तब तक इस पर पूर्णरूपेण निर्भर नहीं रहना चाहिए।

(१०) प्रति के कवि-लिखित होने की भावना भी प्रति का मूल्य अत्यधिक बढ़ा देती है। इस तथ्य की कड़ी जाँच होनी चाहिए अन्यता धोखे की संभावना है। अयोध्या के श्रावण कुंज की सं० १६९१ की मानस की प्रति इसका ज्वलंत उदाहरण

है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रति के संशोधन स्वयं कविकृत हैं। यदि यह सत्य होता तो इस प्रति का मूल्य बहुत बढ़ जाता, पर इस प्रति की जाँच करने पर पता चला कि यह प्रति गोस्वामी जी की मृत्यु के बाद की है, अतः उनकी स्वहस्तलिखित नहीं हो सकती। इस तथ्य के उद्‌घाटन से इसके मूल्य में बहुत कमी आ जाती है।

(११) कवि की वंश-परंपरा में प्राप्त प्रति का पाठ ही अधिक प्रामाणिक हो, यह अनिवार्य नहीं। ऐसी प्रतियों का स्वतंत्र रूप मूल्यांकन करना चाहिए।

(१२) कभी-कभी प्रतियों के पाठ की शुद्धता उनके मूल्यांकन धोखा देती है। यह देख कर कि पाठ साद्यन्त शुद्ध है, प्रयोग व्याकरण-सम्मत हैं, प्रसंग ठीक बैठते हैं, शैली टकसाली है, लिपि सुदृढ़ है, इस निष्कर्ष पर एकदम पहुंचना उचित नहीं है कि यह पाठ प्रामाणिक है। यह ठीक है कि इन गुणों का अभाव अप्रामाणिकता की ओर संकेत करता है, पर इनकी उपस्थिति निश्चित रूप से प्रामाणिकता नहीं सिद्ध करती है।

(१३) प्रक्षेप आदि के निर्धारण में कवि की ज्ञात विचार धाराओं के अनुसार निर्णय करना उचित नहीं है। यह सोचना कि कबीर ऐसा नहीं लिख सकते, सूर के लिए निर्गुण की स्तुति असंभव है, आदि उचित नहीं है। प्रतियों की परीक्षा और वंश-वृक्ष-निर्माण में ऐसी पूर्वधारणाओं से बचना चाहिए।

प्रतियों का मिलान—प्राप्त प्रतियों की जांच के उपरांत उनके पाठों का विस्तृत मिलान करना होता है। इसी मिलान के द्वारा पाठालोचक प्रत्येक प्रति में उपलब्ध पाठ और उनके साम्य तथा वैषम्य से परिचित होता है। इस मिलान के लिए सर्वोत्तम विधि कार्ड की है। पाठ-मिलान के लिए पाठालोचक को सर्वप्रथम प्रतियों की जांच के आधार पर सर्वाधिक विश्वसनीय, सामान्यतः सबसे संक्षिप्त पाठ देने वाली प्रति लेनी चाहिए। उसके प्रत्येक छंद को एक-एक कार्ड पर हूबहू लिख लेना चाहिए। तदुपरांत प्रत्येक प्रति से एक-एक छंद का मिलान करना चाहिए, और कार्ड में नीचे प्रत्येक प्रति के संकेत के आगे पाठांतर देते जाना चाहिए। पाठांतर देने में प्रत्येक कार्ड पर प्रतियों का क्रम एक सा रहना चाहिए। उदाहरण के लिए नीचे बीसलदेवरास के प्रथम छंद के मिलान का रूप दिया जा रहा है।

गउरिका नंदन त्रिभुवन सार।
नाद भेदइ थारइ उदर भंडार।
एकदंतउ मुखि झलहलइ।
मूंसाकउ बाहण तिलक सिंदूर।
कर जोड़ी नरपति भणइ।
जाणि करि रोहिणी तप्पइ सूर॥
भुवणनइ देषंउ रे रवि तलइ॥

नोट :—यह छंद म०, पं०, र०, ग्या०, ना०, न०, अ० १, प्र० १ १, स० १ २ है स० प्र० स्वीकृत द्वितीय तथा तृतीय पंक्ति के 'भेदइ' तथा मुख परस्पर स्थानान्तरित हैं। प्र० में ध्रुवक है : भुवण मोसो वर कामिणी।

पाठान्तर

पंक्ति १—पं—गवका . . .
र०, ग्या०, न–गवरिका . .
प्र०
स० — गौरी . . .

पंक्ति २—ना० — . भेद . . .
न० — नादइ . . . .
स० प्र०— . बेदा . . .

पंक्ति ३—म० ना० — . मुख .
अ० — दंत . .
प्र० स०— . मुख झलमलइ

पंक्ति ४—म० — मूसका . . .
पं०— मुसिकड . . सेंदूरि
अ०— मूसक . . सिंदूर कि
प्र०— मूसाका . . .
स०— मूषा . . सेंदूरि
ग्य०— . (नहीं है) . .

पंक्ति ५— प्र०— . . नाहलो कवि
स०— . जोड़े . .

पंक्ति ६—म० — . रोसिणीजिउ तप्पड .
पं०— . रोहिणीज्यु तेपड सूरि
ग्या०— जाणकरि रोहिणी ज्यु . .
ना०— जाणिकेरि रोहिणी ज्यु . सूर कि
न०— . रोहिणाचल . .
अ० . . . सूर कि
प्र०— जाणकि . तपे .
स०— जाणिक रोग्रिणी इंउ . .

पंक्ति ७ — पं०— भवणनइ . . तपई
र०— कइ भवण नइ . . .

ग्या०— कइ भवण नइ · · ·
ना०— भवणन देषु जी · ·
न०— कि भवणन देषु जी · · [ना. श्र. में यह 'कि' पूर्व की पंक्ति के श्रंत में है]

पं० ग्या० ना० न० में श्रंतिम पंक्ति श्रगले छंद की पहली पंक्ति के रूप में है, जो कि भूल से हुश्रा ज्ञात होता है।

चित्र ४

उपर्युक्त में बिन्दु चिन्ह प्रत्येक पंक्ति के शब्दों के प्रतीक हैं जो कि प्रति में स्वीकृत रूप में प्राप्त हैं।

मिलान की उपर्युक्त विधि के स्थान पर ग्राफ-विधि का प्रयोग भी किया जा सकता है। इसमें श्राधार प्रति की एक-एक पंक्ति ले ली जाती है जिसको प्रत्येक शब्द एक-एक खाने में रहता है। उसके पाठांतर प्रत्येक प्रति के पंक्ति के सामने दिए जाते हैं। उसका रूप नीचे दिए चित्रानुसार होता है :—

श्राधार प्रति	गउरिका	नंदन	त्रिभूवन	सार	
क प्रति					
ख० प्रति					
र प्रति					

चित्र ५

प्रतियों के संबंध-निर्धारण के साधन—प्रतियों के इस मिलान द्वारा उनकी श्रपनी विशिष्टताएँ सामने श्रा जाएँगी तथा उनकी पारस्परिक साम्य श्रौर वैषम्य ज्ञात हो जाएगा। ये ही विशिष्टताएं हैं जिनके श्राधार पर प्रतियों का पारस्परिक संबंध निर्धारित किया जाता है। इस संबंध-निर्धारण में निम्नलिखित प्रकार की विशेषताएँ श्रत्यंत महत्त्वपूर्ण है :—

(क) **पाठ-लोप तथा पाठ-व्यत्यय**—पाठ-लोप श्रौर पाठ-व्यत्यय की एकरूपता श्रत्यंत निकट के संबंध की साक्षी है[1] इसके लिए यह श्रावश्यक है कि यह पाठ-लोप श्रौर पाठ-व्यत्यय प्रतियों में साद्यन्त एवं यथेष्ट मात्रा में प्राप्त हो। यह पाठ-लोप श्रौर व्यत्यय शब्द, पंक्ति श्रौर पृष्ठ तीनों का हो सकता है। यदि ऐसा हैं तो यह निश्चित है कि यह समानता प्रतियों में स्वतंत्र रूप से नहीं श्रा सकती है। इसका मूलाधार उसका समान श्रादर्श है। पाठ-लोप श्रौर पाठ-व्यत्यय पाठ-साम्य से कहीं श्रधिक निकट का संबंध बताते हैं। इसका कारण यह है कि मूल पाठ का साम्य तो सभी शाखा की प्रतियों में होगा, किंतु एक ही प्रकार की श्रशुद्धियों, एक

१. Omissions are the surest of test affirity.

ही पंक्ति का एक ही स्थल पर विभिन्न प्रतियों में व्यत्यय, यह सुनिश्चित करता है कि इन प्रतियों में प्रतिलिपि संबंध है। इनका स्वतंत्र रूप से होना असंभव है।

(ख) **विशिष्ट समानताएँ**—पाठ समानता स्रोत-समानता की द्योतक है।[1] मूल पाठ की दृष्टि से सभी प्रतियों में बड़ी मात्रा में समानता होगी, अतः संबंध-निर्धारण में उनका विशेष उपयोग नहीं है; किंतु यदि प्रतियों में विशिष्ट पाठ की हैं, जो कि कवि संभव नहीं हैं, तो ये समानता उनके सम्बन्ध की ओर संकेत करने वाली होती हैं विशिष्ट पाठ साम्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार की विशिष्ट समानताएं भी संबंध--निर्धारण में सहायक होती हैं। उदाहरणार्थ, पृथ्वीराज रासउ की प्रतियों में उक्ति-शृंखला सी चलती दीख पड़ती है जिसमें प्रथम छंद की अंतिम पंक्ति में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन्हीं में से कुछ के प्रयोग द्वारा आगामी छंद का प्रारंभ होता है। इसकी प्रशस्त परंपरा मिलती है; किंतु कुछ प्रतियों में इनके बीच में भी प्रक्षिप्त अंशों को घुसेड़ दिया गया है। इनकी प्रक्षिप्तता विषयानुसंगति तथा लेखानुसंगति, दोनों ही से सिद्ध है। इस प्रकार की शृंखला को एक विशेष प्रकार से तोड़ने वाले छंदों से युक्त प्रतियों का परस्पर प्रतिलिपि-संबंध से संबद्ध होना सिद्ध होता है। प्रक्षेप-साम्य भी विशिष्टताएँ ही है जिनके द्वारा प्रतियों का संबंध ज्ञात होता है। डॉ० पारस नाथ तिवारी ने कबीर ग्रंथावली के सम्बन्ध-निर्धारण में अन्य विशिष्टताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित का भी उपयोग किया है :—

(क) फारसी लिपि जनित विकृति-साम्य
(ख) नागरी लिपि जनित विकृति साम्य
(ग) राजस्थानी-प्रभाव-समय
(घ) पंजाबी प्रभाव साम्य
(ङ) पुनरावृत्तियों में साम्य

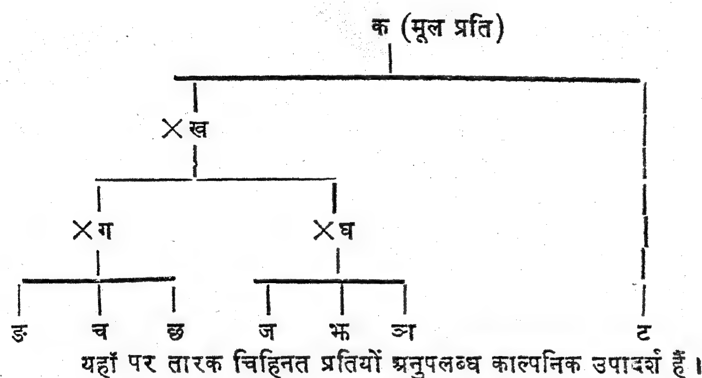
पाठ-संबध के भेद—प्रतियों में प्राप्त पाठ-संबंध दो प्रकार के होते हैं। प्रथम तो शुद्ध या मुख्य संबंध (Primary Relationship) है, तथा द्वितीय संकीर्ण या गौण संबंध (Secondary Relationship) है। वंश वृक्ष-निर्माण के पूर्व इनको समझ लेना आवश्यक है।

शुद्ध या मुख्य सम्बन्ध—शुद्ध या मुख्य संबंध वह संबंध है जिसके द्वारा किसी कृति के पाठ-विकास की विभिन्न शाखा की प्रतियों का सम्बन्ध मूलादर्श से होता है। जिन विशेषताओं के द्वारा यह सम्बन्ध सिद्ध होता है उन्हें मुख्य विशेषताएँ (Primary Feature) कहते हैं। इन विशेषताओं का सम्बन्ध समस्त शाखाओं से समान रूप से होता है। यह सम्बन्ध दो प्रकार का— अशुद्धि-साम्य जनित और शुद्धि साम्य जनित होता है। इस संबंध को एक उदाहरण द्वारा समझना समीचीन होगा।

मान लीजिए कि किसी ग्रंथ क की सात प्रतियाँ ङ. च छ ज झ ञ और ट हैं। और उनका वंश-वृक्ष निम्नलिखित प्रकार का है :

---

१. Accident apart, identity of reading implies identity of source—postgate.



यहाँ पर तारक चिह्नित प्रतियों अनुपलब्ध काल्पनिक उपादर्श हैं।

चित्र ६

इस वशं-वृक्ष में ङ च छ का काल्पनिक आदर्श × ग और ज झ ञ का × घ है। इन दोनों उपादर्शों से इनके काल्पनिक आदर्श × ख का पाठ निर्मित किया गया है। अब प्रश्न है कि यह पाठ कवि का मूल पाठ है या उससे नीचे की स्थिति का है। यदि ट प्रति उपलब्ध नहीं है तो इसका निर्णय अंतर्साक्ष्य के आधार पर किया जाएगा यदि अंतर्साक्ष्य के आधार पर इस पाठ में कोई अशुद्धि नहीं है, तो इसे बाद का पाठ माना जा सकता है। किंतु यदि ऐसा नहीं है, इसमें कुछ अशुद्धियाँ हैं, तो ये अशुद्धियां प्रतिलिपि परंपरा के कारण ड. च छ ज झ ञ सभी में समान रूप से वर्तमान रही होंगी। क्योंकि ये अशुद्धियाँ × ग तथा × घ में समान रूप उपलब्ध थीं, इसलिए इनका निराकरण नहीं हो सका और इन्हीं समान अशुद्धियों के द्वारा × ग और × घ का संबंध उसके उच्चतम आदर्श × ख से लगाया गया हैं इस प्रकार × ग और × घ का समान अशुद्धियों के आधार पर अपने मूलादर्श × ख से मुख्य या शुद्ध संबंध सिद्ध होता है। लगाया गया है। ये अशुद्धियां **मुख्य-साम्य** कहलाती हैं। उपर्युक्त के आधार पर हम मुख्य या शुद्ध साम्य की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं कि मुख्य या शुद्ध साम्य वह साम्य है जो कि किसी ग्रंथ की पाठ-परंपरा की समस्त शाखाओं में प्राप्त विशेषताओं के आधार पर स्थापित होता है। एक अन्य प्रकार से मुख्य या शुद्ध साम्य की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि यह वह विशेषता है जोकि मूलादर्श में थी, तथा जो कि ग्रंथ की पाठ-परपरा की समस्त शाखाओं में प्रतिलिपि द्वारा चली जाती है। यह मुख्य संबंध अशुद्धि-साम्य द्वारा स्थापित हुआ है।

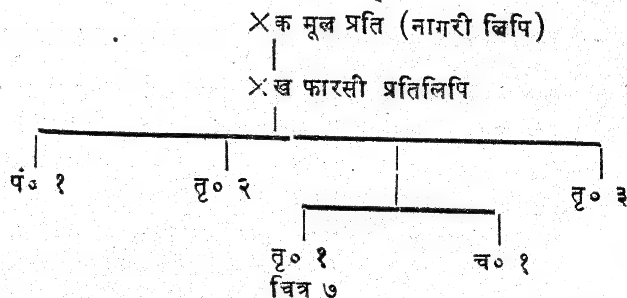
अब यदि हम ट प्रति को भी ले लें जो कि स्वतंत्र परंपरा की है तो × ख की अशुद्धियां ट में नहीं मिलेंगी जब तक कि ये अशुद्धियाँ मूलादर्श क में न रही हों। यदि मूलादर्श क में ही कुछ अशुद्धियाँ थीं तो वे × ख तथा ट दोनों में अपनी-अपनी अशुद्धियों के अलावा समान रूप से प्राप्त होंगी, और इन्हीं अशुद्धियों के आधार पर × ख तथा ट का मूल प्रति क से मुख्य या शुद्ध संबंध होगा। यह मुख्य या शुद्ध सम्बन्ध अशुद्धि साम्य पर आधारित है।

ऊपर अशुद्धि-साम्य के आधार पर मुख्य संबंध की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त मुख्य-सम्बन्ध शुद्धि साम्य के आधार पर भी होता है। उपर्युक्त उदाहरण

में ही यदि मूल प्रति क में कोई भी अशुद्धि न रही हो तो ×ख की अशुद्धियाँ ट में नहीं मिलेंगी। दोनों में प्रतिलिपि जनित अपनी-अपनी अशुद्धियां होंगी। अतः अशुद्धि के आधार पर ×ख तथा ट का कोई संबंध नहीं होगा, किन्तु ×ख तथा ट में शुद्ध-पाठ-साम्य होगा। इसी शुद्ध-पाठ-साम्य द्वारा ×ख और ट का संबंध कैसे होगा। यह संबंध भी मुख्य या शुद्ध संबंध कहलाएगा जो कि अशुद्धि साम्य के आधार पर न होकर शुद्धि साम्य के आधार पर है।

मुख्य-साम्य (विशेषताओं) के आधार पर दो निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है—(१) पुर्निर्मित पाठ कवि-कृत है, अथवा (२) पुर्निर्मित पाठ कवि-कृत नहीं है, वरन् कवि की मूल प्रति की प्रतिलिपि का है। इन निष्कर्षों का आधार अतसाक्ष्य है। यदि प्राप्त मुख्य अशुद्धि-साम्य कवि के पाठ से विकसित हो सकता है तो हमें यह पता चलेगा कि यह कवि कृत नहीं है। जो पाठ हमें प्राप्त हुआ है वह कवि के मूल पाठ से नीचे का है और संशोधन द्वारा वह पाठ प्राप्त किया जा सकता है। यदि अशुद्धि-साम्य ऐसा है जिसके कविकृत होने की संभावना नहीं है तथा जिनका विकास भी नहीं दिखाया जा सकता है, तब उन स्थानों पर संदेह रह जाएगा, और हम कह सकेंगे कि शुद्धि-साम्य वाला पाठ तो कविकृति है पर अशुद्धि- वैषम्य वाला पाठ संदिग्ध है।

कवि की मूल प्रति से अशुद्धि साम्य के विकास की संभावना का सुन्दर उदाहरण जायसी के पद्मावत में उपलब्ध है। पद्मावत की प्रतिलिपि परंपरा अत्यंत स्थूल रूप में निम्नलिखित रूप में व्यक्त की जा सकती है:—



चित्र ७

प्रस्तुत समस्त शाखाओं में ब के स्थान पर व की अशुद्धियाँ मिलती हैं। यह अशुद्धि-साम्य के आधार पर समस्त शाखाओं में मुख्य संबंध स्थापित करती हैं। इन विकृतियों के कुछ-उदाहरण निम्नलिखित हैं :

जबहि > जवों

तबहि > तवों

अनबन > अनवन

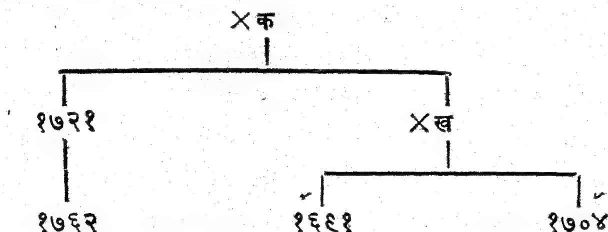
अनबानी > अनवानी

अब प्रश्न है कि ब का यह व कैसे हो गया और समस्त शाखाओं में कहाँ से आया। क्योंकि यह अशुद्धि समस्त शाखाओं में शुद्ध-संबंध रूप में व्याप्त है, अतएव

या तो यह कविकृत है (जिसकी संभावना कम है,) अथवा कवि की प्रति से यह उसकी प्रतिलिपि में आई होगी, और उसी से समस्त शाखाओं में विकसित हुई होगी। क्योंकि उपर्युक्त प्रकार की विकृतियों के कविकृत होने की संभावना नहीं है, अतः संभावना यह है कि इन विकृतियों का विकास कवि के पाठ के द्वारा उसकी प्रतिलिपि में हुआ जहां से यह समस्त कवि के पाठ के द्वारा उसकी प्रतिलिपि में हुआ जहाँ से यह समस्त शाखाओं में आई। डॉ० गुप्त का अनुमान है कि मूल पद्मावत ×क नागरी लिपि में था। उस समय की नागरी लिपि में ब ब़ रूप में लिखा जाता था। ब़ की बिन्दी के छूट जाने के कारण ब व पढ़ा गया और जब इसकी प्रतिलिपि ×ख फारसी लिपि में हुई होगी तो उसमें उपर्युक्त दोष आ गए। ये ही दोष बाद में सभी शाखाओं में स्वाभाविक रूप से चले आए।

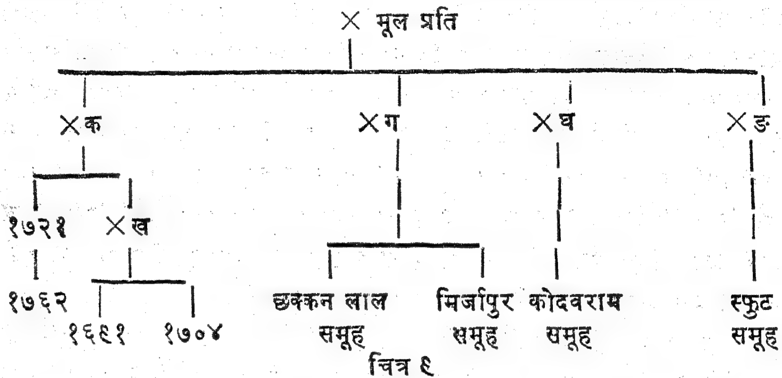
संपाद्य सामग्री के कुछ पाठ किसी न किसी अंश में अंततोगत्वा मूलकृति से संबद्ध होते है। जब हस्तलिखित प्रतियाँ उस पाठ को प्रस्तुत करती हैं जिसे उन्होंने किसी एक मूल पूर्वज से संबद्ध होने के कारण प्राप्त किया है, तब उनका नाता निकट का और घनिष्ट हो जाता है। इसीलिए यह नाता मुख्य कहलाता है।

मुख्य साम्य के महत्त्व और उपयोग का एक अन्य उदाहरण रामचरित मानस की पाठ-परंपरा के अध्ययन से स्पष्ट होता है। मानस की उपलब्ध प्रतियों में चार प्राचीनता हैं। ये सं० १६६१, १७०४, १७२१ तथा १७६२ की हैं। इनमें १६६१ तथा १७०४ एक आदर्श की प्रतिलिपि हैं, तथा १७२१ की प्रतिलिपि १७६२ की प्रति है। इन प्रतियों में उपलब्ध सामान्य अशुद्धियों के आधार पर इन प्रतियों का वंश-वृक्ष निम्नलिखित प्रकार का होता है :



इन प्रतियों को यदि हम स्वतंत्र रूप से लें और अन्य शाखाओं की प्रतियों को ध्यान न रखें तो इनमें ऐसे सामान्य अशुद्धि साम्य मिलते हैं जिनके आधार पर ×क का पाठ कवि कृत नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि ×क प्रति प्राचीन पाठ देती है किंतु वह कवि का पाठ नहीं है। इस प्रकार मुख्य-साम्य हमें प्रतियों की प्राचीतता के आधार पर प्राप्त पाठ को एकदम से कविकृत मान लेने की गलती से सावधान करता है। इसके साथ ही साथ यदि हम मानस की संपूर्ण पाठ-

परंपरा को देखें जो कि नीचे दिए गए वंश-वृक्ष द्वारा व्यक्त की जा सकती है तो हमें पता चलेगा कि ×क की विशिष्टताएं अन्य शाखा की प्रतियों में प्राप्त नहीं है।



चित्र ६

यहाँ पर ×क के पाठ का अशुद्धि-साम्य द्वारा ×ग ×घ ×ङ के पाठ से सम्बन्ध नहीं है, पर शुद्धिपाठ-साम्य के द्वारा है। अतएव मूल पाठ को प्राप्त करने के लिए समस्त शाखाओं का सहारा लेना पड़ेगा।

मुख्य-साम्य का महत्त्व प्रतिलिपि-निर्धारण में कम है। इनका महत्त्व यह निश्चित करने में है कि इसके द्वारा प्राप्त पाठ मूल पाठ है या नहीं। साथ ही साथ उपलब्ध पाठ कवि-कृत है या नहीं, प्राचीन प्रतियों का पाठ कहाँ तक मान्य होना चाहिए, कवि की मूललिपि क्या थी, आदि प्रश्नों का समाधान भी इसी के द्वारा होता है।

संकीर्ण सम्बन्ध—प्रतिलिपि-संबंध-निर्धारण में संकीर्ण-सम्बन्ध ही महत्त्वपूर्ण है। इसको समझने के लिए यदि हम पाठ-विकास के चित्र ३ को देखें तो प्रतियों ठ, ड का परस्पर सम्बन्ध (^{2}ख + ^{3}च) अशुद्धियों की समानता के कारण है। इन दोनों के द्वारा प्राप्त पाठ च का है पर मूल प्रति क का नहीं। इसी प्रकार ढ का सम्बन्ध छ से (^{2}ख + ^{4}छ) विकृतियों के द्वारा है, और इनके आधार पर प्राप्त पाठ छ का है, मूल प्रति क का नहीं; ञ और ण का सम्बन्ध (^{3}ग + ^{5}ञ) द्वारा है, और इनके आधार पर प्राप्त पाठ ञ का है क का नहीं; घ और ट का संबंध (४घ) के साम्य पर है और इनके द्वारा प्राप्त पाठ ख का है, क का नहीं; झ ञ का साम्य (^{3}ग) के आधार पर है, और इनके द्वारा प्राप्त पाठ ग का है, क का नहीं। ये समस्त साम्य जिनके आधार पर मूल पाठ से नीचे के स्तर का पाठ ज्ञात होता है संकीर्ण साम्य तथा उनके आधार पर निर्मित सम्बन्ध संकीर्ण-सम्बन्ध कहलाते हैं। इस संकीर्ण संबंध की परिभाषा नई प्रकार से दी जा सकती है:—

(१) जब किसी ग्रंथ की कुछ उपशाखाओं में ही (समस्त शाखाओं में नहीं) ऐसा साम्य मिलता है जिनके द्वारा उनका परस्पर सम्बन्ध लगता है, तो इन साम्यों

को संकीर्ण साम्य कहते हैं और इनके द्वारा स्थापित सम्बन्ध को संकीर्ण-सम्बन्ध कहते हैं। संकीर्ण-सम्बन्ध द्वारा प्राप्त पाठ मूल पाठ नहीं होता है। उपर्युक्त उदाहरण स ख शाखा में (^{3}ख), च उपशाखा में (^{2}ख+^{3}च), ग शाखा में (^{1}ग) ऐसे ही साम्य हैं।

(२) जब दो या अधिक उपशाखाएँ पूर्णरूप से या अंशतः एक ही आदर्श से सम्बन्ध होती हैं, और यह आदर्श मूलादर्श से नीचे स्तर का होता है, तो उनके इस सम्बन्ध को संकीर्ण सम्बन्ध कहते हैं। ठ, ड, ढ, च, छ, ज मूलादर्ण से नीचे के स्तर के आदर्श ख से सम्बन्धित हैं, अतः इनका परस्पर सम्बन्ध संकीर्ण है।

(३) लेखक की मूल प्रति से इतर अन्य व्यक्तियों—प्रतिलिपिकार, प्रक्षेप-कर्त्ता, संपादक या पाठक आदि द्वारा संशोधित या स्थापित पाठ से प्रसूत होकर कुछ प्रतियों में आए पाठ का परस्पर संबंध कहा जाता है। यह संकीर्ण सम्बन्ध उन अशुद्धियों से ज्ञात होता है जो कि मूलादर्ण के बाद हुई है, अर्थात् विभिन्न शाखाओं में लिपिकारों के भ्रम अथवा प्रक्षेपों के द्वारा आ गई हैं।

इस संबंध को गौण या संकीर्ण इसलिए कहा गया है क्योंकि प्रतिलिपि-परंपरा की किसी परिस्थिति में यदि पाठ विकार-ग्रस्त हो जाता है तो स्वभावतः इस विकार ग्रस्त पाठ के सभी वंशज मूल कृति की तुलना में अप्रधान अथवा गौण हो जाते हैं, और इस समूची नस्ल को गौण सम्बन्ध से सम्बन्धित करते है। पाठ को विकृत करने के कारण ये गौण तत्त्व माने जाते हैं।

संकीर्ण-सम्बन्ध-निर्धारण की विधि—इजर्टन ने पंचतंत्र-पुनर्निर्माण के प्रसंग में संकीर्ण-सम्बन्ध-निर्धारण की तीन विधियों का उल्लेख किया है। उन्हीं के मतानुसार इनमें से प्रथम दो विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :

(क) यदि विभिन्न शाखाओं में अनेक स्थलों पर महत्त्वपूर्ण एवं ध्यानाकर्षित करने वाले ऐसे स्थल मिलते हैं जो कि संभवतः मूलादर्श में नहीं हो सकते हैं, तथा जिनका स्वतंत्र रूप से विभिन्न शाखाओं में एक ही स्थल पर होना या न होना असंभव है तो वे संकीर्ण सम्बन्ध सिद्ध करने वाले होते हैं। ये स्थल जितने विस्तृत होंगे उतनी ही अधिक इस सम्बन्ध की पुष्टि होगी, क्योंकि यह संभावना अत्यल्प है कि स्वतंत्र रूप से बड़ी मात्रा में एक ही अंश विभिन्न स्वतंत्र शाखाओं में एक ही स्थल पर जोड़े या घटाए जा सकें। पंचतंत्र में इजर्टन ने प्रक्षिप्त कथाओं के आधार पर इस प्रकार का संकीर्ण-सम्बन्ध स्थापित किया है। उदाहरणार्थ तंत्राख्यायिका की पाँच प्रक्षिप्त कथाएँ क्षेमेन्द्र में एक ही स्थल पर उपलब्ध हैं। अतः इनका परस्पर संकीर्ण-सम्बन्ध है। पद्मावत में डॉ० गुप्त ने प्रक्षेपों के आधार पर निर्मित संकीर्ण-सम्बन्ध का प्रक्षेप-सम्बन्ध कहा है।

(ख) यह विधि उपर्युक्त प्रकार से निर्धारित सम्बन्ध की पुष्टि करने वाली है। इसके लिए आवश्यक है कि उपर्युक्त प्रकार से निर्धारित संकीर्ण-सम्बन्ध से संबद्ध शाखाओं में छोटे-छोटे विवरणों में अनवरत तथा प्रभूत पाठ-साम्य हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि यह साम्य अतिनियमित हो, तथा विभिन्न प्रतियों के मिलान के आधार पर यह संकेत करने वाला हो कि वे मूलपाठ के अंश नहीं हैं। इस प्रकार से इस सम्बन्ध-निर्धारण में निम्नलिखित चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक हैं:—

(१) पाठ-साम्य छोटे-छोटे शब्दों और प्रयोगों तक में पाया जाए।

(२) इसकी व्याप्ति नियमित तथा साद्यन्त होनी चाहिए।

(३) इसकी स्थापना में भिन्न-भिन्न शाखाओं के पाठों की सर्वांगीण तुलना की गई हो—अर्थात् कुछ स्थलों के पाठ-मिलान के ही आधार पर यह स्थापना न की गई हो, और

(४) उक्त पाठ-साम्य ऐसा दोषपूर्ण है कि उसे मूलपाठ का न माना जा सके। यह पाठ अशुद्ध तथा विषयानुसंगति की दृष्टि से इतना असंगत होना चाहिए कि उसे मूलादर्श का माना ही न जा सके, तथा नीचे की पाठ-परम्परा द्वारा ही वह सम्भव हो। दक्षिणी पंचतन्त्र, नेपाली पाठ और हितोपदेश में, तथा तंत्राख्यायिका और पूर्णभद्र में संकीर्ण सम्बन्ध के आधार पर सिद्ध हुआ है। प्रतिलिपि की अशुद्धियाँ —जिनके आधार पर प्रतिलिपि-सम्बन्ध स्थापित होता है इसी के अन्तर्गत आती हैं।

(ग) इजर्टन के मतानुसार यह विधि प्रथम दो की अपेक्षा कम प्रामाणिक और निश्चयात्मक है, किन्तु कभी-कभी यही एक विधि उपलब्ध रहती हैं, और इसका आश्रय लेना पड़ता है। इस विधि के अनुसार यदि विभिन्न पाठ किसी बृहत्तर संग्रह के अंश हैं और उनमें उस बृहत्तर संग्रह की विषयेतर सामग्री भी समान रूप से उपलब्ध है तो प्राप्त पाठों में संकीर्ण सम्बन्ध होगा और वे उस बृहत्तर-संग्रह से विकसित हैं। पंचतन्त्र पुर्नानिर्माण में इजर्टन ने इसी सिद्धान्त का आंशिक रूप में प्राचीन सीरियाई तथा अरबी पाठ-परम्परा का संकीर्ण सम्बन्ध पहलवी शाखा से, तथा पूर्णरूप से बृहत्कथा शाखा में क्षेमेन्द्र और सोमदेव का संकीर्ण सम्बन्ध-निर्धारण में उपयोग किया है। सीरिया तथा अरबी उपशाखाएँ पहलवी की हैं जिसमें पंचतन्त्र के अनुवाद के अतिरिक्त अन्य सामग्री भी हैं। चूंकि सीरिया तथा अरबी में पंचतन्त्र के अतिरिक्त यह अन्य सामग्री भी सुरक्षित है, अतएव यह अनुमान किया है कि दोनों का संकीण सम्बन्ध पहलवी से है। सोमदेव का कथासरित्सागर तथा क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा —मंजरी समग्ररूप से एक ही उद्गम की हैं, अतः यह अनुमान करना उचित ही है कि दोनों में प्राप्त सामग्री, जोकि समान है, एक ही मूल स्रोत से आई है।

संकीर्ण संबन्ध निर्धारण की उपर्युक्त तीनों विधियाँ यथेष्ट तर्कपूर्ण एवं संगत हैं। पहली विधि में किसी ग्रन्थ के किसी एक ही विशिष्ट स्थल पर गौण रीति से जोड़े हुए प्रक्षिप्त अंशों को महत्त्व दिया गया है। इसमें उन्होंने छोटे-छोटे शब्दों तथा अन्य गौण तत्त्वों को महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि उनके स्वतन्त्र रूप से विकसित होने की सम्भावनाएँ हैं, जबकि प्रमुख एवं विस्तृत प्रक्षिप्त अंश (पंचतन्त्र के सम्बन्ध में कथाएँ) स्वतन्त्र रूप से एक ही स्थल पर नहीं जोड़े जा सकते हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी-ग्रन्थावली में इसका नामकरण प्रक्षेप-सम्बन्ध किया है। इसके सम्बन्ध में डॉ० गुप्त का मत है : "प्रक्षेप-सम्बन्ध पाठ-निर्धारण में उतना निर्णयात्मक नहीं होता जितना प्रतिलिपि-संबन्ध हुआ करता है, इसलिए संपादन शास्त्र में प्रतिलिपि-सम्बन्ध को मुख्य-सम्बन्ध और प्रक्षेप-सम्बन्ध को गौण-सम्बन्ध कहा गया है। किन्हीं दो प्रतियों का प्रक्षेप-सम्बन्ध सिद्ध केवल इतना करता है कि प्रक्षेप के आदान-प्रदान के सम्बन्ध में दोनों परस्पर आबद्ध है, यद्यपि वह इस बात की सम्भावना अवश्य सामने रखता है कि इसमें ग्रन्थ के सामान्य पाठ के सम्बन्ध में भी आदान-प्रदान हुआ होगा।" इजर्टन के प्रक्षेपों के आधार पर निर्मित संकीर्ण सम्बन्ध की इस न्यूनता के कारण ही इसकी पुष्टि प्रतिलिपि सम्बन्ध के आधार पर आवश्यक मानी है। यथार्थ में यह प्रतिलिपि-सम्बन्ध ही (जो कि प्रभूत मात्रा में संपूर्ण ग्रन्थ में निश्चेष्ट विकृतियों के रूप में पाया जाता है) महत्त्वपूर्ण है, और इसके आधार पर निर्मित वंश-वृक्ष विशेष मान्यता का अधिकारी है। उपर्युक्त दोनों प्रकार की विशेषताएँ मुख्यतः प्रबन्ध काव्यों में ही प्राप्त होती हैं। मुक्तक साहित्य में प्रक्षेपों का महत्त्व गौण है। किन्तु, हिन्दी के ऐसे काव्यों के लिए यह विधि उपयोगी हो सकती है जिसका मूल स्रोत कोई ग्रन्थ रहा हो। उदाहरणार्थ सूरदास के प्रबन्धात्मक प्रगीत-खण्डों एवं विशेष लीलाओं के सम्बन्ध में इसका उपयोग हो सकता है। सूरसागर की लीलाएं स्वल्पाधिक रूप में भागवत का छायानुकरण करती हैं; अतएव यदि सूरसागर की कुछ प्रतियों में भागवत की कुछ कथाएं विशेषरूप से एक ही स्थल पर मिलती हैं और अन्य प्रतियों में नहीं उपलब्ध हैं, तो पूर्व प्रतियों का संकीर्ण सम्बन्ध अनुमानित किया जा सकता है।

डॉ० गुप्त ने जायसी-ग्रन्थावली में प्रतिलिपि और प्रक्षेप संबन्धों के अतिरिक्त पाठान्तर-सम्बन्ध नामक एक तीसरा सम्बन्ध भी माना है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने जायसी ग्रन्थावली में निम्नलिखित शब्द लिखे हैं—"विभिन्न प्रतियों में ऐसे भी पाठान्तर मिलते हैं, जिनकी प्रामाणिक होने की असम्भावना उतनी स्वतः सिद्ध नहीं है जितनी प्रतिलिपि-सम्बन्ध स्थापित करने वाले पाठान्तरों की हमने ऊपर देखी है। ऐसी दशा में उनके आधार पर प्रतियों का पाठ-सम्बन्ध तभी माना जा सकता है जब अशुद्धि-साम्य के ये स्थल बहुतायत से हों, और अशुद्धियाँ यदि सर्वथा कवि द्वारा असम्भव नहीं तो कम संभव अवश्य मानी जा सकें।"

डॉ० गुप्त का यह 'पाठान्तर-सम्बन्ध' अधिक स्पष्ट नहीं है। प्रतिलिपि-सम्बन्ध—जो कि निश्चेष्ट विकृतियों के आधार पर होता है, उससे यदि इसका सम्बन्ध नहीं है, और इसका अर्थ यदि शुद्ध से लगने वाले पाठ-भेदों से है तो यह संकीर्ण-सम्बन्ध में न आकर शुद्ध- सम्बन्ध में आएगा। यदि ये पाठान्तर कवि-सम्भव नहीं हैं तो प्रतिलिपि-सम्बन्ध के अन्तर्गत ही इनका उपयोग होगा। डॉ० गुप्त ने जायसी-ग्रंथावली के उपरान्त इस सम्बन्ध का उल्लेख अपने अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं किया है।

विभिन्न सम्बन्धों के लिए आवश्यक साक्ष्य

विभिन्न प्रकार से सम्बन्धों की स्थापना के लिए आवश्यक साक्ष्यों का संकेत किया जा चुका है। यहाँ पर उन्हें व्यवस्थित ढंग से निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा रहा है—

प्रतिलिपि सम्बन्ध के लिए पाठ-विकृति पाठ-लोप, पाठ-व्यत्यय या किसी प्रकार का असाधारण साम्य होना चाहिए जो कि कवि सम्भव न हो। इसके सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि ये विकृतियाँ निश्चेष्ट हों तथा स्वतन्त्र रूप से इनके उत्पन्न होने की सम्भावना न हो।

प्रक्षेप सम्बन्ध के लिए प्रक्षिप्त अंशों में ऐसा साम्य आवश्यक है जो कि स्वतन्त्र रूप से आ सकता है; इस प्रक्षिप्त अंश की शब्दावली में प्रभूत, नियमित तथा साद्यन्त साम्य हो, तथा यदि कुछ प्रतियों का यह प्रक्षिप्त अंश किसी अन्य संग्रह-ग्रंथ का भाग हो तो उन प्रतियों में संग्रह-ग्रन्थ के विषयेतर पाठ भी प्राप्त हों।

संकीर्ण-सम्बन्ध और मिश्र-पाठ

संकीर्ण-साम्य और-मिश्र पाठ में भ्रम के संभावना है। संकीर्ण तत्वों का संबन्ध किसी एक ही उपादर्श की प्रतिलिपि-परंपरा से होता है। इनका विकास प्रतिलिपिकार की सचेष्ट मूलों के कारण होता है। मिश्र-पाठ में विभिन्न स्वतन्त्र शाखाओं के पाठों का अनियमित, मनमाना मिश्रण होता है। इस मिश्रण में संकीर्ण साम्यों का मिश्रण भी हो सकता है।

संकीर्ण-सम्बन्ध का महत्त्व

संकीर्ण-संबन्ध-निर्धारण पाठालोचन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। हस्तलिखित प्रतियों के शाखागत वर्गीकरण का यही एक मात्र साधन है। इस वर्गीकरण का ही वंशानुक्रमित वर्गीकरण कहते हैं। एक प्रकार से यह वंश-वृक्ष निर्माण का मूलाधार है। इसी के द्वारा पाठालोचक संपाद्य सामग्री की स्वतन्त्र शाखाओं को पहचान सकता है, लिपिकारों की व्यक्तिगत विशेषताओं से छुटकारा

पा जाता है और महत्त्वहीन तथा गौण सामग्री का पृथक्करण कर सकता है। इस प्रकार व्यर्थ की सामग्री से पीछा छूट जाने के कारण वह पाठ के पुनरुद्धार की मूर्त समस्या पर एकाग्रचित हो पाता है, और पाठ-शोध की स्थिति में पहुँचता है।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि संकीर्ण-संबन्ध निर्धारण की उपयुक्त विधियाँ मार्ग-निदर्शन मात्र करती हैं। हर पाठ-समस्या को सुलझाने में इनका जड़ता से उपयोग नहीं किया जा सकता। ध्यान यह रखना है कि विश्चेष्ट पाठ-विकृतियों एवं असाधारण तथा विलक्षण पाठों के आधार पर ही संकीर्ण-संबन्ध का निर्धारण होता है।

वंश-वृक्ष-निर्माण की प्रक्रिया

वंश-वृक्ष-निर्माण के विविध साधनों के इस अध्ययन के उपरान्त वंश-वृक्ष-निर्माण का कार्य आता है। वंश-वृक्ष-निर्माण की प्रक्रिया को समझाने के लिए इसका दो उपशीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन करना समीचीन होगा।

अमिश्रित प्रतियों का वंश-वृक्ष-निर्माण

अमिश्रित प्रतियों में परस्पर पाठ का मिश्रण नहीं हुआ रहता है। अतएव उनमें प्राप्त संकीर्ण-सम्बन्ध सरल तथा विभिन्न शाखा-उपशाखाओं की व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर रहता है। पीछे प्रतियों के वंश-विकास में अमिश्रित प्रतियों का उदाहरण दिया जा चुका है। यदि हमें उसी विकास-क्रम की निम्नलिखित नौ प्रतियां—ठ, ड, ढ, ज, झ, ञ, ण, ट, और ङ प्राप्त हैं, और उनके आधार पर हमें ग्रन्थ का वंश वृक्ष निर्मित करना है, तो समस्त प्रतियों के सूक्ष्म और विधिवत अध्ययन के द्वारा उनमें उपलब्ध संकीर्ण-साम्य के ज्ञान द्वारा उनके कुछ मोटे वर्ग बनाए जा सकते हैं। उनकी अशुद्धियों को यदि हम व्यवस्थित ढंग से रखेंगे तो हमें निम्न प्रकार की तालिका प्राप्त होगी—

प्रति	अशुद्धियां	वर्ग
ठ—(२ ख+३ च+६ ह)	अशुद्धियां	एक वर्ग
ड—(२ ख+३ च+७ ड)	अशुद्धियां	एक वर्ग
ढ—(२ ख+४छ+८ ढ)	अशुद्धियां	एक वर्ग
ज—(२ ख+४ज)	अशुद्धियां	
झ—(३ ग+४ अ)	अशुद्धियाँ	दूसरा वर्ग
ञ—(३ ग+५ ञ)	अशुद्धियां	दूसरा वर्ग
ण—(३ ग+५ ञ+६ ण)	अशुद्धियाँ	दूसरा वर्ग
ट—(४ घ+६ ट)	अशुद्धियां	तीसरा वर्ग
ङ—(३ ङ)	अशुद्धियां	चौथा वर्ग

उपर्युक्त चार वर्ग प्रतियों में प्राप्त समान अशुद्धियों के आधार पर बने हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि मूल पाठ का विकास चार स्वतन्त्र शाखाओं में हुआ जिसमें

प्रत्येक वर्ग की प्रतियां एक-एक शाखा की हैं। प्रत्येक वर्ग या शाखा का निर्धारण उस वर्ग की प्रतियों में उपलब्ध समान अशुद्धियों के द्वारा हुआ है। प्रथम वर्ग में २ख, द्वितीय वर्ग में ३ग तृतीय वर्ग में (४ घ + ६ ट) तथा चतुर्थ वर्ग में (३ ड) ऐसी ही अशुद्धियां हैं। इस निर्धारण के बाद प्रत्येक शाखा की प्रतियों को अलग-अलग लेकर उनका सम्बन्ध निर्धारण करना होगा। ठ, ड, ढ, ज, प्रतियों के समान अशुद्धि २ख को छोड़कर अन्य अशुद्धि-साम्य हम देखें तो हमें इसके निम्नलिखित उपवर्ग मिलेंगे—

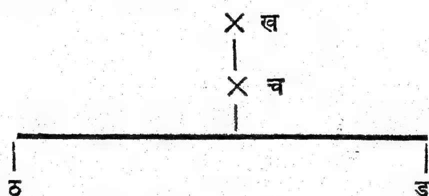
ठ ड —प्रथम उपवर्ग—(२च) समान अशुद्धियों के कारण

ढ—द्वितीय उपवर्ग—(४छ + ८ढ) की अपनी निराली अशुद्धि के कारण

ज—तृतीय उपवर्ग—(४ज) की अपनी निराली अशुद्धि के कारण

इन उपवर्गों के अनुसार प्रथम शाखा की तीन उपशाखाएँ हुईं जिनमें ठ ड एक उपशाखा की, ढ दूसरी उपशाखा की और ज तीसरी उपशाखा की हैं।

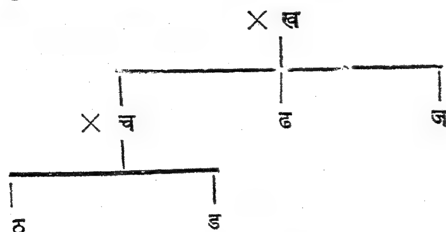
अब एक ही उपशाखा की ठ ड प्रतियों का पारस्परिक सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम में ठ और ड किसी एक की प्रतिलिपि हो सकती है। यह तभी सिद्ध हो सकता है जबकि एक की समस्त अशुद्धियाँ दूसरे में प्राप्त हों, और इस दूसरे में अपनी स्वतंत्र अशुद्धियाँ भी प्राप्त हों। किंतु यहाँ पर ठ और ड में समान (२च) अशुद्धियों के अतिरिक्त अपनी अलग-अलग (६ठ) और (७ड) अशुद्धियाँ भी हैं। इसलिए इनमें सम्बन्ध दूसरे प्रकार का है जिसमें ये किसी एक अनुपलब्ध आदर्श की प्रतिलिपियाँ हैं। इस अनुपलब्ध आदर्श की समान अशुद्धियां (२च) दोनों में प्राप्त हैं, अतः यह आदर्श (२ख) अशुद्धियों वाले आदर्श से नीची स्थिति का है। यह संबन्ध निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है—



चित्र १०

ठ और ज प्रतियों में सिवाय (२ख) के अन्य कोई साम्य नहीं है, और इसके अतिरिक्त इनमें अलग-अलग अपनी-अपनी अशुद्धियां भी मिलती हैं। इस कारण से ढ और ज में से कोई दूसरे की प्रतिलिपि नहीं है, बल्कि किसी मूलादर्श की प्रतिलिपियां है। क्योंकि दोनों में (३च) अशुद्धियां नहीं मिलती, इसलिए इनका आदर्श × च से ऊपर की स्थिति का होना चाहिए; और चूँकि इनकी समान अशुद्धियां (२ख) कल्पित उपादर्श की समान अशुद्धियों के समान ही है, इसलिए × च, ढ तथा

ज का आदर्श एक होना चाहिए जिसे कि ×ख कहा गया है। इस प्रकार संपूर्ण शाखा का वंश-वृक्ष निम्नलिखित प्रकार का बन जाता है—



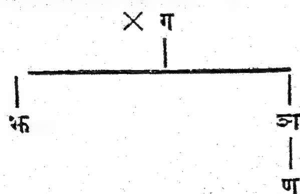
चित्र ११

इस परंपरा में छ की अपनी अशुद्धियाँ बतलाने वाली कोई प्रति नहीं है, अतएव ढ का विकास छ से हुआ, यह सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सकता है। इस निर्माण में ढ ही छ का प्रतिनिधित्व करेगी।

अब यदि हम दूसरे वर्ग की प्रतियों को लें और उनकी अशुद्धियों का वर्गीकरण तो उसके निम्नलिखित अपवर्ग बनेंगे—

झ—प्रथम उपवर्ग—(+ [४]झ) अशुद्धियों के कारण
ञ—द्वितीय उपवर्ग—([५]ञ) " " "
ण—तृतीय उपवर्ग—([५]ञ+[६]ण) " " "

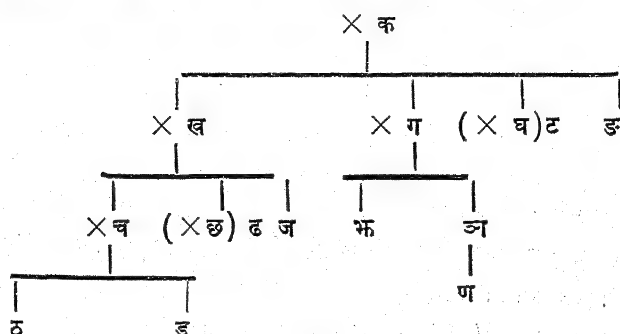
इनमें द्वितीय और तृतीय उपवर्ग में ञ की समस्त अशुद्धियाँ ण में हैं और अपनी अशुद्धियाँ भी हैं, मगर ञ में कोई ऐसी अशुद्धि नहीं है जो कि ण की हो। इसलिए ञ की प्रतिलिपि ण है। इसके बाद प्रथम और द्वितीय उपवर्गों के अध्ययन से पता चलता है कि दोनों में द्वितीय वर्ग की समान अशुद्धियों ([३]ग) के अतिरिक्त अपनी-अपनी अशुद्धियाँ हैं। अतः दोनों का सम्बन्ध किसी एक आदर्श से हैं जो कि समान अशुद्धियों के आधार पर ×ग कल्पित किया जा सकता है। इस प्रकार इस संपूर्ण शाखा का वंश-वृक्ष निम्नलिखित प्रकार का बन जाता है—



चित्र १२

इनके बाद तृतीय और चतुर्थ वर्ग में अशुद्धि-साम्य नहीं है, इसलिए वे स्वतंत्र शाखा की होनी चाहिए। यहां पर भी घ प्रति के प्राप्त न होने के कारण ट उसका प्रतिनिधित्व करेगी।

अब ×ख, ×ग, ट अथवा ×घ और ड. में कोई समान अशुद्धियाँ नहीं हैं, अतएव इनका परस्पर सम्बन्ध मुख्य-साम्य के आधार से मूल प्रति से होनी चाहिए। इनका मूल प्रति से संबन्ध सभी में मिलने वाले शुद्ध पाठ-साम्य के आधार पर, और सभी में मिलने वाली विभिन्न अशुद्धियों के कारण अशुद्धि-वैषम्य के आधार पर होगा। इस प्रकार उपलब्ध नवों प्रतियों का वंश-वृक्ष निम्नलिखित प्रकार से होगा जिसमें अनुपलब्ध ×छ तथा ×घ का स्थान नहीं रहेगा—



चित्र १३

इस वंश-वृक्ष के चित्र के से तुलना करने पर विदित होगा कि सामग्री के अभाव में कभी-कभी यह कहना कठिन होता है कि किसी प्रति के ऊपर कितने उपादर्श हो चुके हैं।

वंश-वृक्ष निर्माण के इस काल्पनिक उदाहरण के उपरांत यह उचित होगा कि ऐसे कुछ यथार्थ उदाहरण भी ले लिए जाएँ जो कि विषय को को स्पष्ट कर सकें।

रामचरितमानस की प्रतियों का वंश-वृक्ष-निर्माण—मानस के संपादन में डा० गुप्त ने लगभग ९ महत्त्वपूर्ण प्रतियों का प्रयोग किया। ये निम्नलिखित हैं—

(१) सं० १७२१ वि० की सभा की प्रति
(२) सं० १७६२ वि० की सभा के भूतपूर्व पुस्तकाध्यक्ष श्री श्याम नारायण चौबे की प्रति
(३) छक्कन लाल की प्रति
(४) रघुनाथ दास की प्रति
(५) बंदन पाठक की प्रति
(६) सं० १७०४ की काशिराज की प्रति
(७) कोदवराम की प्रति
(८) मिर्जापुर की प्रतियाँ
(९) सं० १६६१ की श्रावण कुंज की प्रति

इन प्रतियों में सं० १७२१ तथा १७६२ की प्रतियों में १२ अशुद्धि-साम्य के स्थल मिले।। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:—

(१) १७२१ में बालकांड में दोहा-सं० २२६ के स्थान पर भूल में २२९ लिख उठी है, और इसी कारण कांड के अंत तक वास्तविक दोहा-संख्या में ३ की वृद्धि हो गई है। १७६२ में भी यही बात हुई है।

(२) १—११२— सामान्य पाठ है : राम कृपातें पारबति सपनेहु तव मन माहिं। १७२१ तथा १७६२ दोनों में कृपातें पारबति के स्थान पर कृपारबति लिख गया है।

(३) १—२२८—५-६ सामान्य पाठ है: मज्जन की सर सखिन्ह समेता।
गई मुदित मन गौरी निकेता।
पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा।
निज अनुरूप सुभग बर मांगा।

१७२१ तथा १७६२ ने ऊपर के अंतिम तीन चरण दोबारा उसी स्थान पर लिख उठे हैं, और अंतिम चरण प्रथम चरण की शब्दावली के भ्रम से निज अनुरूपिहन समेता लिख उठा है।

(४) १—३१५—७ सामान्य पाठ है: मरकत कनक बरन बर जोरी। १७२१ तथा १७६२ में न बर छूट गए है तथा लिख गया है—मरकत कनक बर जोरी।

उपर्युक्त साम्यों के आधार पर निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं :—

(क) दोनों किसी सामान्य आदर्श की प्रतिलिपियाँ हैं? यह तभी संभव है जब कि दोनों में समान अशुद्धियों के अतिरिक्त निजी अशुद्धियाँ हों।

(ख) १७२१ की प्रति १७६२ की प्रतिलिपि है? यह तही संभव है जब कि १७६२ की सभी अशुद्धियाँ १७२१ में हो, तथा १७२१ में अपनी अशुद्धियाँ भी हों।

(ग) १७६२ की प्रति १७२१ की प्रतिलिपि हैं? यह तभी संभव है जब कि १७२१ की सभी अशुद्धियाँ १७६२ में हों तथा १७६२ में अपनी अशुद्धियाँ भी हों।

अशुद्धियों के मिलान से पता चला कि १७२१ की सभी अशुद्धियाँ १७६२ में हैं, और इनके अतिरिक्त १७६२ में अपनी अशुद्धियां भी हैं। जैसे, निम्नलिखित आदि

(१) १—१५७—४ सामान्य पाठ है: रिस बरन भूप चलेउ संग लागा। १७६२ में बरन नहीं है।

(२) १—१७८ सामान्य पाठ है: सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ। १७६२ में दल छूट गया है।

इन अशुद्धियों के आधार पर निष्कर्ष निकला कि १७६२ की प्रति १७२१ की प्रतिलिपि है, जिसे निम्न रूप में व्यक्त कर सकते हैं:—

× १७२१
|
१७६२

चित्र १४

सं० १६६१ तथा १७०४ की प्रतियों के मिलान पर उनमें भी यथेष्ट अशुद्धि-साम्य देखा गया। डॉ० गुप्त ने आठ ऐसी अशुद्धियों का संकेत किया है, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं —

(क) १—१२—७ सामान्य पाठ है : समुझि विबिध बिनती अब मोरी। दोनों में अब छूट गया है।

(ख) इनके आदर्श की एक पूरी पंक्ति किन कहहु। सुनत रिजिन्ह कै बचन भवानी। बोली गूढ़ मनोहर बानी। कहत मरमु दोनों में छूट गई है।

(ग) निम्नलिखित अर्द्धालियाँ दोनों प्रतियों में आने से रह गई है :—

जाइ बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी।
राम सीय सुन्दर प्रति छांही। जग मगाति मनि खंभन्ह माहीं।

इन अशुद्धि-साम्यों के आधार पर इन दोनों प्रतियों का प्रतिलिपि-संबन्ध निश्चित होता है, तथा पहले के ही समान तीन प्रश्न उठते हैं कि ये कहीं एक दूसरे की प्रतिलिपि तो नहीं हैं, अथवा ये दोनों ही किसी अन्य उपादर्श की प्रतिलिपि हैं। पूर्व विधि के अनुसार अशुद्धियों के मिलान पर ज्ञात होता है कि किसी एक की समस्त अशुद्धियां दूसरी में नहीं आई हैं तथा सामान्य अशुद्धियों के अतिरिक्त दोनों की अपनी अपनी अशुद्धियाँ भी हैं, जैसे—

१६६१ की निजी अशुद्धियों में से कुछ निम्नलिखित हैं—

(क) १-१२६ सामान्य पाठ हैं : गहेसि जाइ मुनि चरन कहि सुठि आरत मृदु बैन। १६६१ में मृदु आने से रह गया है।

(ख) १-३०२-१ में निम्नलिखित अर्द्धाली आने से रह गई है—

सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसें। सुरु गुरु संग पुरंदर जैसे।

इसी प्रकार १७०४ की कुछ निजी अशुद्धियाँ निम्नलिखित हैं—

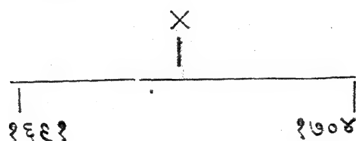
(क) १-६३-६ सामान्य पाठ है : पाछिल दुःख न हृदय अस व्यापा। इसके स्थान पर पाछिल दुख हृदय न अस व्यापा हो गया है

(ख) १-२४०-३ : निम्नलिखित अर्द्धाली लिखने से रह गई है—

चले सकल गृह काज बिसारी। बाल जुबान जरठ नर नारी।

इन विशिष्ट अर्द्धालियों के कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि १६६१ तथा

१७०४ एक दूसरे की प्रतिलिपि न होकर किसी सामान्य आदर्श की प्रतिलिपि हैं, जिसे निम्नरूप में व्यक्त कर सकते हैं—



चित्र १५

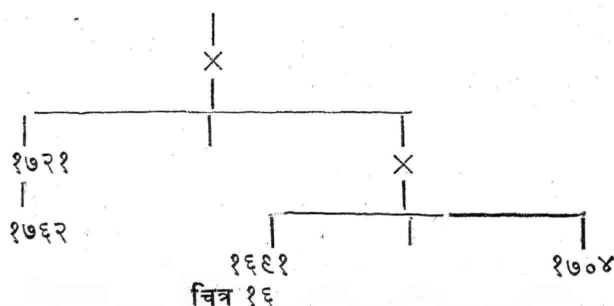
अब यदि उपशाखाएँ १६६१/१७०४ तथा १७२१/१७६२ को देखें तो दोनों शाखाओं में कुछ सामान्य अशुद्धियां मिलती हैं, जैसे—

(क) १-१२१-६ सामान्य पाठ है : बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी। अधम के स्थान पर दोनों शाखाओं में अधरम लिख गया है।

(ख) २-२२५-२ की निम्नलिखित अर्द्धाली दोनों शाखाओं में आने से रह गई है—

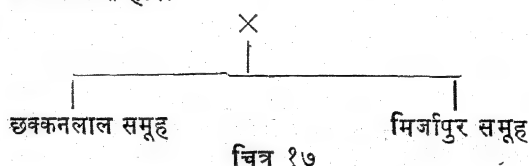
भरतहिं सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू।

इन सामान्य अशुद्धियों के आधार पर ज्ञात होता है कि १६६१/१७०४ तथा १७२१/१७६२ में किसी प्रकार का प्रतिलिपि संबन्ध है। ये दोनों उपशाखाएँ या तो एक दूसरे में से किसी की प्रतिलिपि हो सकती हैं, अथवा एक सामान्य आदर्श की प्रतिलिपि हो सकती हैं। १७२१/१७६२ यदि १६६१/१७०४ की प्रतिलिपि-परम्परा में होती तो दोनों शाखाओं की उपर्युक्त सामान्य अशुद्धियाँ तथा १६६१ तथा १७०४ की सामान्य अशुद्धियां भी प्रायः समस्त मिलनी चाहिए थीं। किन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार यदि १६६१/१७०४ की प्रति १७२१/१७६२ की प्रतिलिपि परंपरा में में होती, जो तिथियां यदि ठीक हैं तो असंभव ही है तो उसमें दोनों उपशाखाओं की उपर्युक्त सामान्य अशुद्धियों के अतिरिक्त १७२१ तथा १७६२ की सामान्य अशुद्धियां प्रायः समस्त मिलनी चाहिए थीं। किन्तु ऐसा भी नहीं है। वस्तुतः जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, दोनों शाखाओं में कुछ सामान्य अशुद्धियां हैं, और कुछ दोनों शाखाओं की अपनी अपनी अशुद्धियाँ हैं। फलतः यह प्रकट है कि १६६१/१७०४ तथा १७२१/१७६२ किसी सामान्यतर आदर्श की प्रतिलिपि परम्परा में हैं। किन्तु दोनों शाखाओं का यह सामान्य आदर्श कवि हस्तलिखित नहीं है, यह ध्यान देने योग्य है, क्योंकि दोनों शाखाओं की उपर्युक्त सामान्य अशुद्धियाँ केवल किसी अक्षर या शब्द को गलत पढ़ या लिख जाने से उत्पन्न नहीं हैं, वरन् उनमें पूरी-पूरी अर्द्धालियों या शब्द छूटे हुए हैं। इनके इस संबन्ध को निम्नलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं—



चित्र १६

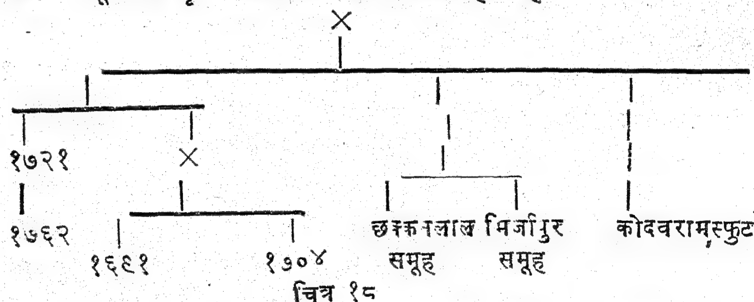
रघुनाथ दास, छक्कन लाल, तथा बन्दन पाठक की प्रतियों में भी यथेष्ठ पाठ-साम्य मिलता है जो कि संभव है कि इन समस्त के प्रतिलिपि संबन्ध द्वारा है। मिर्जापुर समूह की प्रतियां और छक्कनलाल समूह की प्रतियों में इतना पाठ-साम्य है कि उसका छक्कन लाल समूह के आदर्श से सम्बन्धित माना जा सकता है। यह सम्बन्ध निम्न रूप में व्यक्त होगा—



चित्र १७

कोदव राम की प्रति एक स्वतन्त्र शाखा की है।

इसके अतिरिक्त स्फुट प्रतियाँ हैं, जिन्हें एक स्वतन्त्र शाखा का मानना होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण वंश-वृक्ष निम्नलिखित रूप में प्रकट होता है—



चित्र १८

इनमें से कवि का मूल हस्तलिखित पाठ देने वाली कोई भी शाखा नहीं है, क्योंकि सभी में ऐसी सामान्य अशुद्धियाँ पाई जाती हैं, जो कि कविकृत नहीं हो सकती हैं।

छिताई वार्ता का पाठ-सम्बन्ध

छिताई वार्ता की दो प्रतियाँ क० तथा ख० हैं। इन दोनों के पाठों में अन्तर है फिर भी कई स्थलों पर दोनों में पाठ की विकृतियां समान रूप से पाई जाती हैं। डॉ० गुप्त ने ऐसे ९ उदाहरण दिए हैं जिनमें से क० के खडित होने के कारण इन

अंशों के ३ उदाहरण उसमें नहीं हैं, शेष ६ दोनों के समान रूप से हैं। इनमें से कुछ अशुद्धियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) संपादित छन्द ५६७ का पूर्वार्द्ध दोनों में हैं—

क० चूमकसी तांति तबूरा तोरि। छोरि छिताई दई उतारि।
श्री० चमकितु चित्त महा सरसरी। छोरि चिताई दई उतारि।

दोनों पाठों में थोड़े अन्तर होते हुए भी जो बात समान रूप से दर्शनीय हैं वह है दोनों चरणों का भिन्न तुकान्त और प्रसंग की दृष्टि से किंचित असंबद्ध होना। ऐसा लगता है कि दोनों चरणों के बीच कुछ न कुछ और चरण थे, जो दोनों में छूटे हुए हैं।

(२) संपादित छन्द ३५२ के पूर्वार्द्ध का पाठ है—

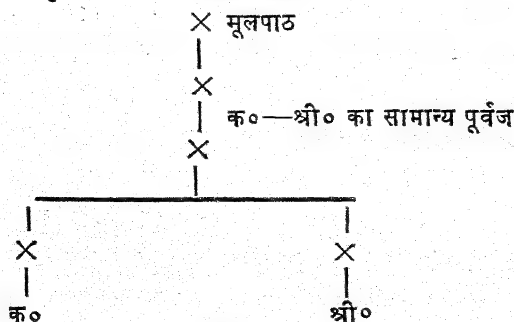
क० अब कइ जौ न छिताइ लेहु। तौ निज सीस देवगिरि देहु।
श्री० जौ अब कै न छितई लेंउ। तौ निज सीस द्यौगिरिहि देउं।

और सम्पादित छन्द ३२६ के उत्तरार्द्ध के रूप में भी आता है—

क० जो न छिताई अब के लेहु। तौ निज सीस देवगिरि देहु।
श्री० जौ न छितई अब कै लैउं। तौ निज सीस द्यौगिरिहि देउं।

पुनरुक्ति स्पष्ट है।

इन अशुद्धियों के कारण इनका प्रतिलिपि सम्बन्ध निर्धारित होता है। यह सम्बन्ध किसी सामान्य आदर्श से है। इसके अतिरिक्त इनमें कुछ ऐसे प्रसिद्ध अंश भी प्राप्त हैं जिनके आधार पर यह मानना पड़ेगा कि क० और श्री० के पूर्वज के पाठ का जो दो शाखाओं में विकास हुआ है उसमें ही ये प्रक्षिप्त छन्द बढ़ाए गए। इसके अतिरिक्त क० और श्री० की सामान्य अशुद्धियां ऐसी हैं जो कि कविकृत नहीं हो सकती हैं। अतः क० और ख० का पूर्वज कविकृत नहीं था यह भी सिद्ध होता है। पुनः इन दोनों प्रतियों में अलग-अलग ऐसी पंक्तियां हैं जो प्रक्षिप्त प्रतीत होती है और अन्त के ८०-८५ छन्द भी दोनों में भिन्न है। अतएव उपर्युक्त सामान्य पूर्वज के नीचे किसी पीढ़ी में इनके अपने-अपने पूर्वज एक दूसरे से कुछ भिन्न भी होगा। यह स्पष्ट है इसका वंश-वृक्ष निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है—



चित्र १६

मिश्रित पाठ देने वाली प्रतियों से वंश-वृक्ष-निर्माण

अमिश्रित प्रतियों का वंश-वृक्ष-निर्माण अपेक्षाकृत सरल तथा सुबोध है। व्यवहार में वस्तु:स्थिति इतनी सरल नहीं हुआ करती। प्राचीन प्रतियों के पाठ में मिश्रण मिलना स्वाभाविक है। प्राचीन और मध्य युग में अपनी प्रति के खण्डित हो जाने के कारण या पाठ के सन्तोषजनक न होने के कारण प्रतिलिपिकार अथवा संग्राहक किसी अन्य उपलब्ध प्रति से रुच्यानुकूल अपनी प्रति में पाठ संशोधन कर लिया करता था। अकसर यह पाठ हाशिये में (दाहिने, बाँए, ऊपर या नीचे) लिख लिया जाता था, और कालान्तर में इस प्रकार की प्रति जब किसी नवीन प्रतिलिपि का आदर्श बनती थी, तो लिपिकार इस अतिरिक्त पाठ को उतार लेता था और मूल पाठ को छोड़ देता था, अथवा इसे भी स्वीकृत पाठ में किसी स्थान पर भिड़ा कर मिश्रण कर देता था। यह भी सम्भावना है कि चतुर प्रतिलिपिकार कई प्रतियों के आधार पर नई प्रतियां तैयार करते रहे हों। इन प्रतियों के पाठ में भी मिश्रण हो जाता होगा। इस प्रकार मिश्रित प्रतियों का विकास होता है।

मिश्रित पाठ से लाभ

पाठ-मिश्रण की क्रिया प्रतिलिपि-क्रिया के साथ ही विकसित हुई होगी। इस मिश्रण से हानि और लाभ दोनों ही होते हैं। पाठ-मिश्रण बड़ी मात्रा में एक सचेष्ट क्रिया है। लिपिकारों की अल्पज्ञता के कारण सम्भावना है मिश्रण से अधिकतर पाठ की हानि ही होती है तथा उनके आधार पर स्वतन्त्र शाखाओं का निराकरण भी कठिन हो जाता। फलस्वरूप पाठ-निर्माण में ऐसी प्रति का महत्त्व न्यून हो जाता है। हाँ एक स्थिति में मिश्रित प्रति का विशेष महत्त्व हो जाता है। यदि किसी स्वतन्त्र शाखा की समस्त प्रतियां लुप्त हो गई है और उस शाखा का पाठ किसी मिश्र प्रति में सुरक्षित रहता है तो उसका महत्त्व स्वतन्त्र साक्षी रूप में हो जाता है। मानस की १६६१/१७०४ में इसी प्रकार की स्फुट-शाखा का पाठ सुरक्षित है पंचतन्त्र की चार स्वतन्त्र परम्पराओं में बृहत्कथा की तीसरी शाखा के अन्तर्गत सोमदेव तथा क्षेमेन्द्र के पाठ सम्मिलित हैं। इनमें से क्षेमेन्द्र का पाठ पहली शाखा के तंत्राख्यायिका के पाठ से मिश्रित हो गया था। अतः क्षेमेन्द्र के पाठ को स्वतन्त्र शाखा के पाठ का महत्त्व नहीं दिया गया। उसे तभी उपयोगी माना गया है जब दूसरी शाखा के दक्षिणी पचतन्त्र और चौथी शाखा के पहलवी पाठों से उसके पाठों का समर्थन होता है। पंचतन्त्र के आधार पर ही हमें ज्ञात होता है कि पहली शाखा के पूर्णभद्र के पाठ पर किसी ऐसे लुप्त पाठ का प्रभाव था जो ज्ञात चारों पाठ-परम्पराओं से भिन्न था। इसलिए पूर्णभद्र का पाठ मिश्रित होते हुए भी विशेष महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। उसे हम लुप्त पाठ प्रस्तुत करने के कारण अंशतः स्वतन्त्र साक्ष्य मान सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि मिश्रित पाठ वंशानुक्रमिक विवेचन में उस प्रकार सहायक नहीं हो सकता है जैसा कि स्वतन्त्र शाखा का पाठ हुआ करता है। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह भी हुआ करती है कि जिन पाठों में बहुत अधिक मिश्रण हुआ रहता है, वहाँ वंशानुक्रम ही स्पष्ट और अज्ञात हो जाया करता है। रामकृष्ण भण्डार कर को मालती-माधव के सम्पादन में ऐसी ही कठिनाई का अनुभव करना पड़ा।

मिश्रित प्रतियों द्वारा वंशानुक्रम-निर्माण

मिश्रित प्रतियों का वंश-वृक्ष-निर्माण प्रतिलिपि की अशुद्धियों के अतिरिक्त प्रक्षेपों के विशेष उपयोग द्वारा किया जाता है। इसके लिए जिन साक्ष्यों की आवश्यकता होती है उनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इन प्रक्षेपों के आधार पर मूलादर्श के नीचे के पाठ तक हम पहुंचेंगे। इसके अतिरिक्त यदि प्रतियों में प्रतिलिपि सम्बन्ध भी मिलता है तो उसके आधार पर उस शाखा की प्रतियों की स्थिति और भी अधिक निश्चित हो जाएगी।

कभी-कभी पाठों में इतना अधिक मिश्रण हुआ रहता है, और पाठ की परंपरा इतनी प्राचीन रहती है कि वंशानुक्रम अस्पष्ट और अज्ञात हो जाया करता है। ऐसी स्थिति में प्रक्षेप-मात्र का ही सहारा लेकर प्रक्षेप संबन्ध का निर्धारण करना पड़ता है। पंचतन्त्र के पाठ का वंश-वृक्ष इसी प्रकार निर्मित हुआ है। जब प्रक्षेप-सम्बन्ध भी कारगर नहीं होता है तब पाठालोचक को अन्य उपायों का अवलंबन लेना पड़ता है। यदि अस्पष्ट वन्शानुक्रम वाली ६ प्रतियों में उनकी समस्त व्यक्तिगत विशेषताओं के अध्ययन के अनन्तर हम देखते हैं कि किन्हीं तीन प्रतियों में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण उत्तम पाठ पाए जाते हैं जो कि शेष तीन प्रतियों में अप्राप्त हैं तो हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उत्तम पाठ वाली तीन प्रतियों की प्रतिलिपि परम्परा में निश्चय ही कोई उत्तम पाठ वाला आदर्श रहा होगा, क्योंकि तभी उसमें उत्तम पाठ समान रीति से प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार उत्तम प्रतियों का एक वर्ग बनाया जा सकता है जिसकी विश्वासनीयता शेष तीन प्रतियों के वर्ग से अधिक मानी जा सकती है। इस प्रकार इन प्रतियों में वंशानुक्रमिक-प्रणाली का आंशिक प्रयोग किया जा सकता है। मालती-माधव के संपादन में इसी पद्धति का उपयोग किया गया है। पाठों की उत्तमता का निर्णय विषयानुसंगति तथा लेखानुसंगति के आधार पर किया जाता है।

मधुमालती का वंश वृक्ष मिश्रित प्रतियों का अत्यंत सरल रूप मधुमालती की पाठ परंपरा में मिलता है। इसके संपादन में निम्नलिखित चार प्रतियों का उपयोग किया गया है—

(१) रा० —रामपुर के नवाब साहब के पुस्तकालय की प्रथम छंद-विहीन प्रति।

(२) भा०—भारत कलाभवन, वाराणसी के आदि-मध्य में त्रुटित प्रति।

(३) मा०—भारत कलाभवन, वाराणसी की अत्यधिक त्रुटित एक अन्य प्रति।

(४) ए०—एकडला की प्रति

इन प्रतियों के सम्बन्ध-निर्धारण में मा० और भा० में ५ समान तथा इन अनेक स्वतंत्र विकृतियाँ है। समान विकृतियों में से कुछ निम्नलिखित हैः—

(१) ३०८.३ का स्वीकृत पाठः पूंछेसि कुंवर कहाँ सो वारी।
सपनें विरह जो गा मोहिं मारी।

मा० —अपने गयेउ मोह सौतुख मारी।

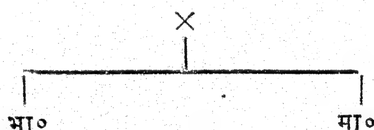
भा० —सपने जो गौ मोहि सौतुख मारी।

(२) ५१७.५ का स्वीकृत पाठ: तुम चरनन तर मांथ हमारा।
कोहु जैस मन मान तुम्हारा।

मा०—परा अहै अब जानु तुम्हारा।

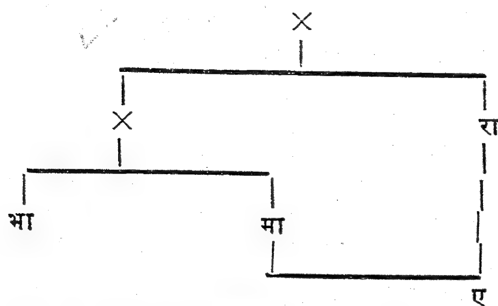
भा०—परा अहा अब जानु तुम्हारा।

इन विकृतियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भा० और मा० का परस्पर प्रतिलिपि-सम्बन्ध न होकर किसी एक मूलादर्श से सम्बन्ध है जिसकी सामान्य अशुद्धियाँ इनमें आ गई हैं। अतः इस सम्बन्ध को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता—



चित्र २०

प्रतिया भा०, मा०, ए० के मिलान से पता चलता है कि मा, भा० ए० में जहाँ ७ सामान्य अशुद्धियाँ हैं, वहाँ ए० में मा० की अपनी ८ अशुद्धियाँ हैं, तथा कुछ (७) ऐसी स्वतंत्र अशुद्धियाँ हैं जो कि रा० में हैं। इसलिए ए० का सम्बन्ध मा० तथा रा से पाठ-मिश्रण द्वारा है। क्योंकि रा० स्वतंत्र शाखा की प्रति है, अतः इन अशुद्धियों के आधार पर इन प्रतियों का प्रतिलिपि-सम्बन्ध निम्न प्रकार से स्थापित होता हैः—



चित्र २१

पंचतंत्र का वंश-वृक्ष—अक्सर ऐसी परिस्थितियां आती हैं जब कि उपलब्ध प्रतियों में कोई स्पष्ट प्रतिलिपि-संबंध नहीं किया जा सकता, और वे विशेष रूप से मिश्रित होती हैं। ऐसी स्थिति में इन प्रतियों का सच्चे अर्थों में वंश-वृक्ष निर्मित नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति में प्रतियों का वर्गीकरण उनकी प्रक्षेप या अन्य विशेषताओं के आधार पर शाखाओं के अंतर्गत किया जाता है, तथा उनके सापेक्षिक महत्त्व का निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार से संबंध-निर्धारण का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण पंचतंत्र के पुनर्निर्माण का है। अतएव पंचतंत्र की पाठ-परंपरा के निर्धारण का अध्ययन समीचीन होगा।

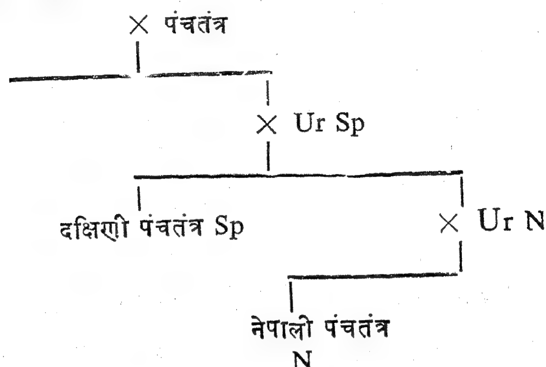
पंचतंत्र के पुनर्निर्माण में प्रयुक्त सामग्री को आठ प्रमुख धाराओं में विभाजित किया गया है। ये निम्नलिखित है :—

(१) तंत्राख्यायिका (T)—इस रूपांतर की पोथियाँ शारदा लिपि में लिखी हैं, तथा कश्मीर से प्राप्त हुई हैं। इसकी D और B दो उपशाखाएँ हैं। दोनों शाखाएँ एक दूसरे से बहुत अधिक मिलती हैं। केवल B में D से अधिक कथाएँ हैं।

(२) दक्षिणी तथा उससे संबंधित रूपांतर (Sp)—इसकी पाँच उपशाखाएँ हैं,जिनमें से D का पाठ सर्वाधिक शुद्ध है।

(३) नैपाली पंचतंत्र (N)—यह रूपाँतर केवल श्लोकों का संग्रह हैं। इस रूपांतर में दक्षिणी रूपाँतर की D शाखा के समस्त श्लोक तथा एक गद्य वाक्य भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह रूपाँतर पंचतंत्र के एक एसे रूप से विकसित है जिसमें गद्य और पद्य दोनों ही हैं, और जो कि Sp के आदर्श के पाठ से मिलता था। किंतु क्योंकि N का पाठ Sp की अन्य उपशाखाओं के पाठ से भिन्न भी है। और चूँकि Sp की अन्य शाखाओं का पाठ तथा N का पाठ मूल से लगते हैं, अतः यह सिद्ध होता है कि दक्षिणी रूपांतर तथा वह संपूर्ण गद्य-पद्यमय आदर्श जिसमें नेपाली रूपांतर बना था, एक ही नहीं थे, न ही एक दूसरे की प्रतिलिपि थे, वरन् एक पीढ़ी

ऊपर के आदर्श (काल्पनिक Sp आदर्श × Ur Sp) से निकला था । यह संबंध निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है:—



चित्र २२

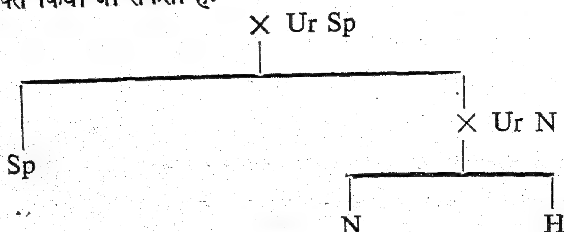
(४) हितोपदेश (H)—यह रूपाँतर नारायण नायक एक बंगाली व्यक्ति द्वारा पंचतंत्र तथा अन्य ग्रंथों के आधार पर बनाया गया है । यह दक्षिणी रूपांतर से संबंधित है क्योंकि इसका आदर्श तथा नेपाली रूपांतर के काल्पनिक आदर्श निम्न-लिखित तर्कों के कारण समान है :—

(क) केवल हितोपदेश तथा नैपाली रूपांतरों में ही पंचतंत्र का एक तथा दो का स्थान-परिवर्तन है !

(ख) हितोपदेश में सामान्यतः दक्षिणी रूपाँतर का पाठ है । पर जिन स्थलों पर दक्षिणी तथा नेपाली रूपाँतरों में पाठ-भेद हैं, वहां हितोपदेश का पाठ नेपाली रूपांतरों में पाठ भेद है, वहाँ हितोपदेश का पाठ नेपाली रूपाँतरों से मिलता है ।

(ग) हितोपदेश में प्राप्त पंचतंत्र का गद्य अंश दक्षिणी रूपांतर से मिलता है ।

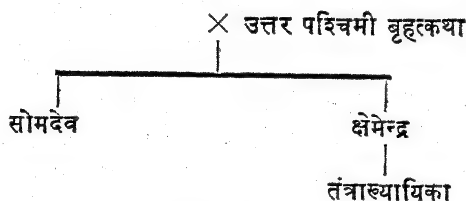
दक्षिणी पंचतंत्र, नैपाली पंचतंत्र और हितोपदेशों तीनों में एक ही क्षेपक कथा है । Sp तथा N में यह एक ही स्थल पर है जबकि H में दूसरे स्थल पर है । H में स्थान-परिवर्तन महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि उसमें कथाओं का क्रम भिन्न-भिन्न हैं । इसके अतिरिक्तदोनों में शब्द-साम्य भी बहुत अधिक है । अतः यह समस्त संबंध निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है:—



चित्र २३

(५) **बृहत्कथा तथा कथासरित्सागर**—इसके अंतर्गत क्षेमेन्द्र (Ks) तथा सोमदेव (So) के पाठ आते हैं। ये दोनों एक ही उद्गम से सम्बन्धित हैं, अतएव संभावना है कि दोनों में प्राप्त सामग्री भी एक ही स्रोत से आई है, किंतु दृढ़ प्रमाण के अभाव में तथा स्वतंत्र विशेषताओं के कारण संभव है कि So तथा Ks का आदर्श भिन्न-भिन्न हों।

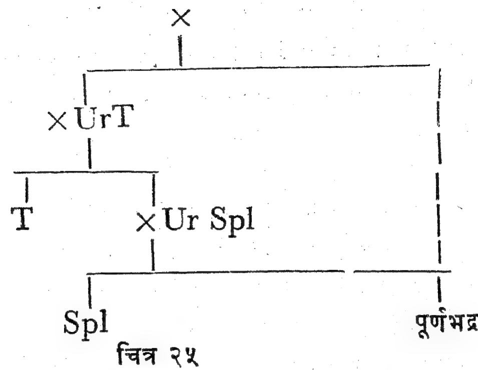
क्षेमेन्द्र अत्यंत संक्षिप्त है। यह अपने-काल्पनिक आदर्श वृहत्कथा से भी अधिक संक्षिप्त है। इसमें पांच ऐसी प्रक्षिप्त कथाएँ हैं जो कि तंत्राख्यायिका के B में प्राप्त है। अतः सिद्ध होता है कि क्षेमेन्द्र ने अपने आदर्श के साथ तंत्राख्यायिका का भी प्रयोग किया है, जिससे इसका मिश्रण हुआ है। सोमदेव में पंचतंत्र की समस्त कथाएँ आती हैं, तथा इसमें पाठ-मिश्रण प्रतीत नहीं होता है इनका संबंध निम्न प्रकार का है :—



चित्र २४

(६) **प्रचलित पंचतंत्र** (Spl)—यह अनेक प्रक्षेपों से युक्त पंचतंत्र का सामान्य प्रचलित रूप है।

(७) **पूर्णभद्र** (Pn) —पूर्णभद्र तथा Spl की सामग्री के मिलान से सिद्ध होता है कि पूर्णभद्र ने spl का प्रयोग न कर उसके आदर्श का प्रयोग किया है। इसमें Spl तथा तंत्राख्यायिका सम्मिश्रण है। पूर्णभद्र में पुस्तक ३ में Spl का अनुकरण है, पर अन्त में उसका पूर्णतः पालन नहीं किया गया है। पूर्णभद्र में Spl और T का मिश्रण इस प्रकार हुआ है कि एक ही पाठ के अगल-बगल दो रूपान्तर प्राप्त हैं जिनमें से एक Spl तथा दूसरा T से मिलता है। इस प्रकार के चार उदाहरण मिलते हैं। Spl के काल्पिनिक आदर्श ×Ur Spl तथा T का आदर्श काल्पनिक × Ur T से सम्बन्ध हो जाता है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णभद्र ने किसी अन्य स्रोत का भी उपयोग किया है। इसका अनुमान इससे होता है कि T या Spl में ऐसे स्थल हैं जो कि मूल के नहीं हैं, जबकि पूर्णभद्र में वहां पर मूल का पाठ मिलता है। अतः यह सिद्ध होता है कि इसमें एक अथवा अनेक ऐसे आदर्शो का प्रयोग है जो कि प्राप्त आदर्शों से स्वतन्त्र था तथा आज अप्राप्त है। इस प्रकार तंत्राख्यायिका, सामान्य पंचतन्त्र, और पूर्णभद्र का सम्बन्ध निम्न प्रकार का है।

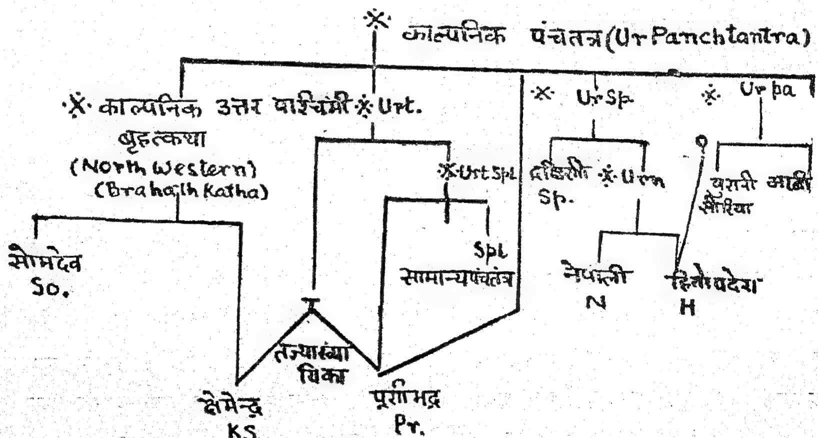


चित्र २५

(८) पहलवी रूपान्तर (Pa)

पंचतन्त्र का सन् ५३१-५७९ के बीच पहलवी में अनुवाद हुआ था। आज मूल पहलवी अनुवाद तो प्राप्त नहीं है, पर इसकी उपशाखाएँ प्राप्त हैं। इनकी सभी उपशाखाओं में श्लोक तथा गद्य-अंशों के क्रम में कुछ समान गड़बड़ियां हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ये सभी ×Ur P से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त इनमें पंचतन्त्र के अनुवाद के अतिरिक्त अन्य सामग्री भी सुरक्षित है। क्योंकि पुरानी सीरिया और अरबी में यह अतिरिक्त सामग्री सुरक्षित है, अतः संभावना है कि इनमें सुरक्षित पंचतन्त्र का भी परस्पर सम्बन्ध है।

उपर्युक्त रूपान्तरों में जिनका सम्बन्ध परस्पर सिद्ध नहीं होता है उन्हें स्वतंत्र रूपान्तर मानना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न रूपान्तरों में प्राप्त विशेषताओं के आधार पर प्रतियों का सम्बन्ध निर्माण कर उन्हें मूल पचतन्त्र के विकास की परम्परा मान लिया गया है। यह सम्पूर्ण परम्परा निम्न रूप में व्यक्त की जा सकती है :



चित्र २६

इस आधार पर पंचतन्त्र के ४ स्वतन्त्र रूपान्तर हैं—

(१) P तंत्राख्यायिका, सामान्य पंचतन्त्र तथा पूर्णभद्र—इसी के अन्तर्गत आंशिक रूप से क्षेमेन्द्र भी है। पूर्णभद्र को कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूपान्तर का महत्त्व दिया गया है, क्योंकि उसमें एक लुप्त रूपान्तर का पाठ सुरक्षित है।
(T) (Spl) (Pa)

(२) दक्षिणी, नैपाली तथा हितोपदेश
(Sp) (N) (H)

(३) क्षेमेन्द्र और सोमदेव
(Ks) (So)

(४) पहलवी
(Pa)

महाभारत का वंश-वृक्ष-निर्माण

मिश्रित प्रतियों के वंश-वृक्ष-निर्माण का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ महाभारत है। इसके आदि पर्व के सम्पादन में सुखथन्कर ने स्पष्ट किया है कि इसके उपलब्ध प्रतियों का पाठ अत्यन्त मिश्रित है, फलस्वरूप उनका प्रतिलिपि-सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में उपलब्ध प्रतियों को विभिन्न शाखाओं या रूपान्तरों में विभाजित करने की समस्या है। इसके लिए सुखथन्कर ने कुछ सिद्धान्त अपनाये हैं। महाभारत की पोथियों के इस सम्बन्ध-निर्धारण का अध्ययन रोचक एवं उपयोगी होगा।

महाभारत का पाठ गतिशील रहा है। वह नाटक आदि की भाँति स्थिर नहीं था। अतः महाभारत के सम्पादन में मूलादर्श तक पहुंचना ध्येय नहीं है, क्योंकि यह मूलादर्श शायद कभी था ही नहीं। पाठालोचन का उद्देश्य तो महाभारत की समस्त विविधता के साथ उसकी पाठ-परम्परा का उद्घाटन करना है। इसी कारण से सुखथंकर ने कहा है कि हमारा कार्य गतिमान पाठ की समस्या (Our is a problem in textual dyramics rather than in textual statics)

निष्
भिन्न

के सम्बन्ध में दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि इसकी पाठ-परम्परा हीं हुआ है।

की पोथियों की संख्या अत्यधिक है। उन सभी को प्राप्त करना ग हो सकना कठिन ही नहीं असम्भव भी हैं। आदि पर्व की ही लगभग २३५ पोथियाँ थीं जिनमें देवनागरी में १०७, बंगाली में ११, तेलगू में २८, मलयालम में २६, नैपाली में ५, शारदा में ३, नड़ में १, और नन्द नागरी में हैं। आदि पर्व के सम्पादन में ७० । और ६० का पाठ-निर्माण में पूर्ण प्रयोग किया गया है।

प्रतिलि
तथा
रूपांतर

जबकि
इनका

। की पोथियों में प्रतिलिपि-सम्बन्ध की सम्भावना की न्यूनता के । देश-व्यापी परंपरा के विचार से विभिन्न प्रान्त और लिपियों का न्तर से संबन्धित है। यदि भारतीय ग्रन्थों के विकास विभिन्न है तो उस पाठ की लिपियाँ अपनी-अपनी परंपरा का प्रतिनिधित्व अतः प्रयुक्त समस्त पोथियों को दो मुख्य रूपान्तरों— दक्षिणी में विभाजित किया गया है। उत्तरी और दक्षिणी ह विभाजन महाभारत के स्थूल स्वरूप में ही स्पष्ट है। जैसे रूपान्तर दक्षिणी में २४। उत्तरी रूपान्तर में उपपर्व हैं जबकि दक्षिणी में इनका के अतिरिक्त वर्तनी, छन्द, अध्यायों का क्रम क्षेपक एक ही आख्यान) के विभिन्न रूपान्तर हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिणी रूपान्तर उत्तरी से । कि संपूर्ण महाभारत में बिखरे हुए अनेक अंशों के कारण हैं। इस । के कारण दक्षिणी रूपान्तर के उपाख्यान अधिक पूर्ण है—उदाहरणार्थ क पिता का नाम उत्तरी रूपान्तर में नहीं है, पर दक्षिणी में उच्चश्रैवा सी लगभग निम्नलिखित ७ विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर पोथियों का किया गया है। ये निम्नलिखित हैं—

नें

मिश्रण
रूपांतर
उपशाखा
रूप में

पान्तर की विशेषताएं

१) शब्द अथवा वाक्यांशों की विभिन्नता—साधारण अंशों में अनेक हैं, की वर्तनी में, पर्यायवाची शब्दों में आदि विशेष अंश कम पर महत्त्वपूर्ण पर्व तथा अध्याय का विभाजन और उनका शीर्षक आदि।

२) लंबे अवतरणों में अन्तर, जैसे धृतराष्ट्र के १०० पुत्रों का नामादि।

३) बिना कथा-प्रवाह में अन्तर लाए पाठ-वृद्धियां, और कथा को दोहरा ाई पाठ-वृद्धियाँ।

४) उत्तरी रूपांतर की कथाओं के स्वरूप को बदलने वाली पाठ-वृद्धियाँ,

जैसे, शकुन्तला तथा दुष्यन्त का पुरोहित द्वारा विवाह कर देना। इसी प्रकार ययाति शर्मिष्ठा का भी विवाह होना।

(५) पाठ-लोप के स्थलों को भरने का प्रयत्न जैसे द्रुपद का जन्म भी द्रोण तथा कृप की भाँति होना।

(६) युद्धों की बहुलता।

(७) उत्तरी रूपांतर में प्राप्त पर दक्षिणी में अप्राप्त अंश। ये अनेक हैं, जैसे खांडव वन-दहन उपाख्यान।

इन दो रूपांतरों के आधार पर महाभारत के आदि पर्व की प्रतियों का निम्नांकित वर्गीकरण किया गया है—

१. **उत्तरी रूपांतर** (Northern Recension) N

(क) **उत्तरी पश्चिमी शाखा** (North-western version) V

शारदा उपशाखा S'=१ पोथी
काश्मीरी (देवनागरी) उपशाखा K=७ पोथी

(ख) **मध्य शाखा** V

नैपाली उपशाखा N=३ पोथी
मैथिली V=१ पोथी
बंगाली B=६ पोथी
देवनागरी (काश्मीरी से भिन्न) D=२३ पोथी

२. **दक्षिणी रूपान्तर** (Southern Recension) S

तेलगू उपशाखा T=३ पोथी
ग्रंथ G=७ पोथी
मलयालम M=८ पोथी

उत्तर—पश्चिमी शाखा

शारदा एवं काश्मीर पोथियों का पाठ सबसे छोटा तथा निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त है जिनके कारण वह उत्तरी रूपांतर की अन्य पोथियों से भिन्न सिद्ध होता है। इनमें—

(१) दुशाला के जन्म का वृतान्त नहीं है।

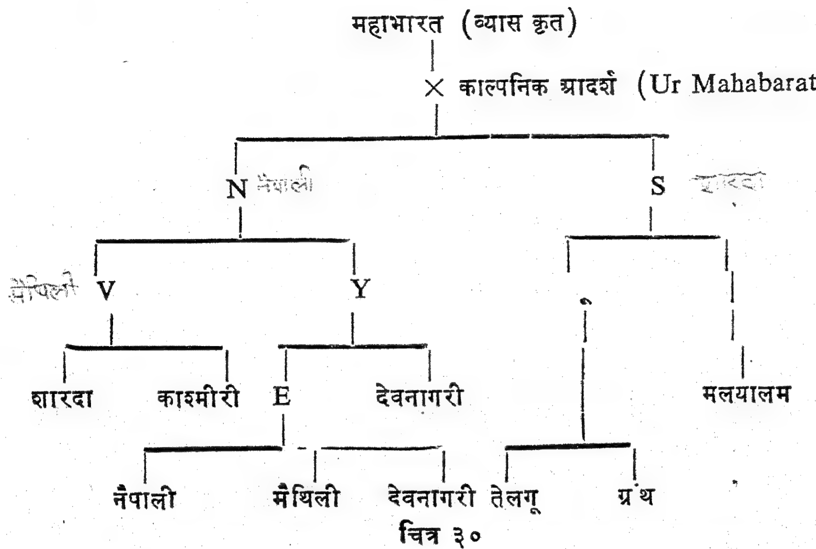
(२) द्रोण पुत्र अश्वत्थामा का पानी में आटा घोल कर पानी नहीं है।

(३) युधिष्ठिर को युवराज होने का पूर्वाभास नहीं है।

(४) भारद्वाज द्वारा शंत्रुजय को दी गई मन्त्रणा जिसे भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था नहीं है।

(५) पांडवों द्वारा गंगा का पार करना नहीं है।

संपूर्ण महाभारत का वंश-वृक्ष निम्नलिखित रूप में चित्रित किया जा सकता है :



चित्र ३०

हिन्दी के ग्रंथों में मिश्रित पाठ परंपरा के ग्रंथ पद्मावत बीसलदेव रास और कबीर ग्रंथावली प्रकाशित हो चुके है। इन ग्रंथों की प्रतियों में प्रतिलिपि संबन्ध भी उपलब्ध है। इस प्रतिलिपि-परंपरा के निर्धारण में ही ऐसे संकीर्ण साम्य सामने आते हैं, जिनके आधार पर विभिन्न शाखा या प्रतियों के मिश्रण का संकेत मिलता है। इन समस्त के संबंध निर्धारण में प्रतिलिपि संबंधों का ही उपयोग किया गया है। केवल पद्मावत में प्रक्षेपों का भी आधार लेकर प्रक्षेप-संबंध की स्थापना भी की गई है। किंतु, प्रतिलिपि- संबंध उपलब्ध होने के कारण इसका उपयोग नहीं किया गया है। इन ग्रंथों के वंश-वृक्ष-निर्माण में प्रयुक्त साक्ष्यों का विस्तार से वर्णन ग्रंथों में ही किया गया है। ये साक्ष्य मात्रा में इतने अधिक तथा प्रतियों का संबंध इतना जटिल है कि उसके क्रमिक निर्माण को दिखाना संभव नहीं है। इन तीनों ग्रंथों के वंश-वृक्ष का चित्र पाठ-निर्धारण के अध्याय में प्रत्येक में प्रयुक्त सिद्धाँतों को बतलाते समय दिया गया है।

प्रतियों के संबन्ध-निर्धारण और वंश-निर्माण के साथ-साथ पाठालोचन का कार्य बड़ी मात्रा में सुलझ जाता है। इस सम्बन्ध-निर्धारण के द्वारा ही प्राप्त प्रतियों की सापेक्षिक पीढ़ियाँ निश्चित की जाती है और उनके सापेक्षिक महत्व का निर्णय किया जाता है। इस निणय के उपरांत ही पाठ-निर्धारण का कार्य प्रारंभ होता है, जिसका विवेचन आगामी अध्याय में किया जा रहा है।

महाभारत के सम्बन्ध में दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि इसकी पाठ-परम्परा में ह्रास लगभग नहीं हुआ है।

महाभारत की पोथियों की संख्या अत्यधिक है। उन सभी को प्राप्त करना और उनका उपयोग हो सकना कठिन ही नहीं असम्भव भी हैं। आदि पर्व की ही उसके सम्पादक में लगभग २३५ पोथियाँ थीं जिनमें देवनागरी में १०७, बंगाली में ३२, ग्रन्थ में ३१, तेलगू में २८, मलयालम में २६, नैपाली में ५, शारदा में ३, मैथिली में १, कन्नड़ में १, और नन्द नागरी में हैं। आदि पर्व के सम्पादन में ७० प्रतियों का मिलान और ६० का पाठ-निर्माण में पूर्ण प्रयोग किया गया है।

महाभारत की पोथियों में प्रतिलिपि-सम्बन्ध की सम्भावना की न्यूनता के कारण एवं उसकी देश-व्यापी परंपरा के विचार से विभिन्न प्रान्त और लिपियों का अन्तर पाठ के अन्तर से संबन्धित है। यदि भारतीय ग्रन्थों के विकास विभिन्न परम्परा में हुआ है तो उस पाठ की लिपियाँ अपनी-अपनी परंपरा का प्रतिनिधित्व करती हैं। अतः प्रयुक्त समस्त पोथियों को दो मुख्य रूपान्तरों—उत्तरी और दक्षिणी में विभाजित किया गया है। उत्तरी और दक्षिणी रूपांतरों का यह विभाजन महाभारत के स्थूल स्वरूप में ही स्पष्ट है। जैसे रूपान्तर में १८ पर्व हैं, दक्षिणी में २४। उत्तरी रूपान्तर में उपपर्व हैं जबकि दक्षिणी में इनका अभाव है। इनके अतिरिक्त वर्तनी, छन्द, अध्यायों का क्रम क्षेपक एक ही आख्यान (सुभद्रा हरण) के विभिन्न रूपान्तर हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिणी रूपान्तर उत्तरी से बड़ा भी है जो कि संपूर्ण महाभारत में बिखरे हुए अनेक अंशों के कारण हैं। इस विशेष सामग्री के कारण दक्षिणी रूपान्तर के उपाख्यान अधिक पूर्ण है—उदाहरणार्थ मत्स्यगन्धा के पिता का नाम उत्तरी रूपान्तर में नहीं है, पर दक्षिणी में उच्चश्रवा नाम है। ऐसी लगभग निम्नलिखित ७ विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर पोथियों का विभाजन किया गया है। ये निम्नलिखित हैं—

दक्षिणी रूपान्तर की विशेषताएं

(१) शब्द अथवा वाक्यांशों की विभिन्नता—साधारण अंशों में अनेक हैं, जैसे नामों की वर्तनी में, पर्यायवाची शब्दों में आदि विशेष अंश कम पर महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें पर्व तथा अध्याय का विभाजन और उनका शीर्षक आदि।

(२) लंबे अवतरणों में अन्तर, जैसे धृतराष्ट्र के १०० पुत्रों का नामादि।

(३) बिना कथा-प्रवाह में अन्तर लाए पाठ-वृद्धियां, और कथा को दोहरा कर लाई गई पाठ-वृद्धियाँ।

(४) उत्तरी रूपांतर की कथाओं के स्वरूप को बदलने वाली पाठ-वृद्धियाँ,

जैसे, शकुन्तला तथा दुष्यन्त का पुरोहित द्वारा विवाह कर देना। इसी प्रकार ययाति शर्मिष्ठा का भी विवाह होना।

(५) पाठ-लोप के स्थलों को भरने का प्रयत्न जैसे द्रुपद का जन्म भी द्रोण तथा कृप की भाँति होना।

(६) युद्धों की बहुलता।

(७) उत्तरी रूपांतर में प्राप्त पर दक्षिणी में अप्राप्त अंश। ये अनेक हैं, जैसे खांडव वन-दहन उपाख्यान।

इन दो रूपांतरों के आधार पर महाभारत के आदि पर्व की प्रतियों का निम्नांकित वर्गीकरण किया गया है—

१. **उत्तरी रूपांतर** (Northern Recension) N

(क) **उत्तरी पश्चिमी शाखा** (North-western version) V

शारदा उपशाखा S'=१ पोथी
काश्मीरी (देवनागरी) उपशाखा K=७ पोथी

(ख) **मध्य शाखा** V

नेपाली उपशाखा N=३ पोथी
मैथिली V=१ पोथी
बंगाली B=६ पोथी
देवनागरी (काश्मीरी से भिन्न) D=२३ पोथी

२. **दक्षिणी रूपान्तर** (Southern Recension) S

तेलगू उपशाखा T=३ पोथी
ग्रंथ G=७ पोथी
मलयालम M=८ पोथी

उत्तर—पश्चिमी शाखा

शारदा एवं काश्मीर पोथियों का पाठ सबसे छोटा तथा निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त है जिनके कारण वह उत्तरी रूपांतर की अन्य पोथियों से भिन्न सिद्ध होता है। इनमें—

(१) दुशाला के जन्म का वृतान्त नहीं है।

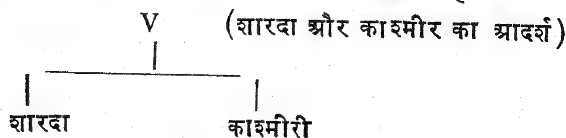
(२) द्रोण पुत्र अश्वत्थामा का पानी में आटा घोल कर पानी नहीं है।

(३) युधिष्ठिर को युवराज होने का पूर्वाभास नहीं है।

(४) भारद्वाज द्वारा शंत्रुजय को दी गई मन्त्रणा जिसे भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था नहीं है।

(५) पांडवों द्वारा गंगा का पार करना नहीं है।

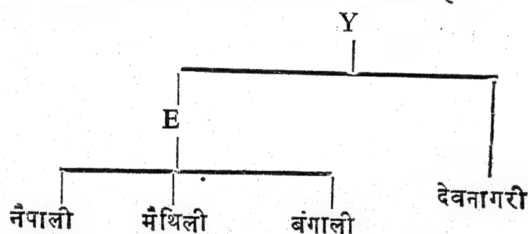
(६) श्वेतकी की क्षेपक कथा इसमें प्राप्त है, पर अन्य में नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इनका एक समूह है जो कि इसी रूपांतर की अन्य प्रतियों से भिन्न है। अतः इतना सम्बन्ध निम्न रूप में प्रकट किया जा सकता है :



चित्र २७

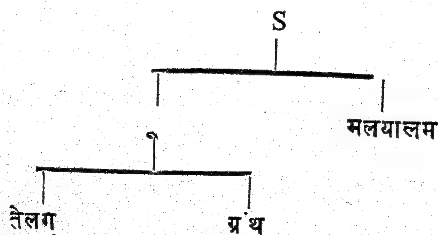
मध्य शाखा—इस समूह का निर्माण इसलिए हुआ, क्योंकि इसमें प्राप्त प्रतियों में कुछ समान विशेषताएँ, जैसे, कुंती-पांडव के विवाह का सविस्तार वर्णन तथा अन्य क्षेपक हैं, जो कि न तो उत्तर-पश्चिमी शाखा में हैं, और न ही दक्षिणी रूपांतर में हैं।

नेपाली मैथिली और उपशाखाएँ एक ही आदर्श से विकसित प्रतीत होती हैं, जबकि देवनागरी अपने क्षेपकादि के कारण उनसे स्वतंत्र प्रतीत होती है। अतएव इनका सम्बन्ध इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है—



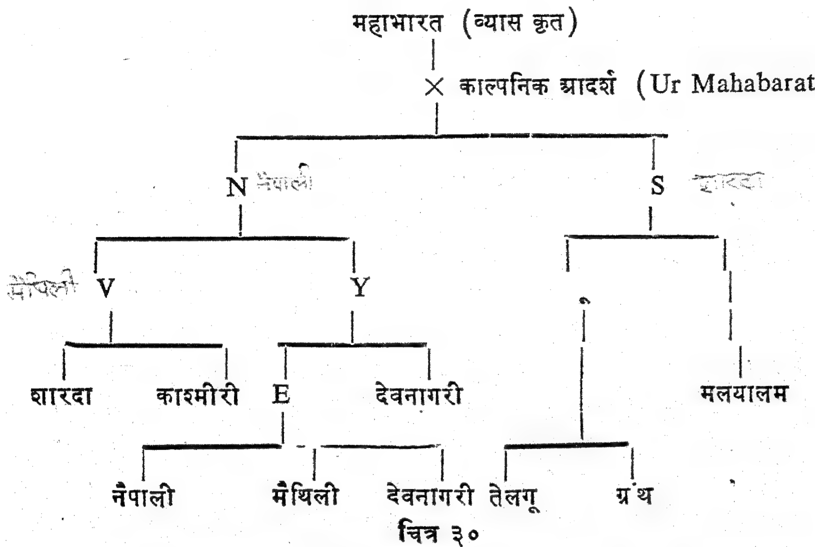
चित्र २८

दक्षिणी रूपांतर में तेलगू उपशाखा में उत्तरी तथा दक्षिणी रूपांतरों का मिश्रण है, तथा ग्रंथ पोथियों में उत्तरी रूपांतर का प्रभाव है। मलयालम दक्षिणी रूपांतर की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रति है, क्योंकि इसमें क्षेपक तथा मिश्रण कम शारद उपशाखा से मेल खाती है। इस आधार पर इस रूपांतर का वंश-वृक्ष निम्नलिखित रूप में चित्रित किया जा सकता है:—



चित्र २९

संपूर्ण महाभारत का वंश-वृक्ष निम्नलिखित रूप में चित्रित किया जा सकता है :



चित्र ३०

हिन्दी के ग्रंथों में मिश्रित पाठ परंपरा के ग्रंथ पद्मावत बीसलदेव रास और कबीर ग्रंथावली प्रकाशित हो चुके है। इन ग्रंथों की प्रतियों में प्रतिलिपि संबन्ध भी उपलब्ध है। इस प्रतिलिपि-परंपरा के निर्धारण में ही ऐसे संकीर्ण साम्य सामने आते हैं, जिनके आधार पर विभिन्न शाखा या प्रतियों के मिश्रण का संकेत मिलता है। इन समस्त के संवंध निर्धारण में प्रतिलिपि संबंधों का ही उपयोग किया गया है। केवल पद्मावत में प्रक्षेपों का भी आधार लेकर प्रक्षेप-संबंध की स्थापना भी की गई है। किंतु, प्रतिलिपि- संबंध उपलब्ध होने के कारण इसका उपयोग नहीं किया गया है। इन ग्रंथों के वंश-वृक्ष-निर्माण में प्रयुक्त साक्ष्यों का बिस्तार से वर्णन ग्रंथों में ही किया गया है। ये साक्ष्य मात्रा में इतने अधिक तथा प्रतियों का संबंध इतना जटिल है कि उसके क्रमिक निर्माण को दिखाना संभव नहीं है। इन तीनों ग्रंथों के वंश-वृक्ष का चित्र पाठ-निर्धारण के अध्याय में प्रत्येक में प्रयुक्त सिद्धाँतों को बतलाते समय दिया गया है।

प्रतियों के संबन्ध-निर्धारण और वंश-निर्माण के साथ-साथ पाठालोचन का कार्य बड़ी मात्रा में सुलझ जाता है। इस सम्बन्ध-निर्धारण के द्वारा ही प्राप्त प्रतियों की सापेक्षिक पीढ़ियाँ निश्चित की जाती है और उनके सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय किया जाता है। इस निणय के उपरांत ही पाठ-निर्धारण का कार्य प्रारंभ होता है, जिसका विवेचन आगामी अध्याय में किया जा रहा है।

: ५ :

पाठ-निर्धारण

उपलब्ध सामग्री की परीक्षा और प्रतियों के मिलान एवं सम्बन्ध-निर्धारण द्वारा किसी पाठ की निम्नलिखित परिस्थितियाँ हो सकती हैं :—

(१) **पाठ की एक ही प्रति प्राप्त** – इस स्थिति में पाठालोचक का कार्य सरल हो जाता है। पाठालोचक को ऐसी स्थिति में प्राप्त प्रति का यथार्थ पाठ मात्र प्रस्तुत कर देना है। इस पाठ में असंदिग्ध रूप से प्रामाणित लेखन-प्रमाद शुद्ध किए जा सकते हैं, किंतु पाठ में सामान्य संशोधन करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। यदि यह एक प्रति सौभाग्य से कवि की स्वहस्तलिखित है, तब तो उसे और भी संयम से काम लेना चाहिए।

(२) **समान पाठ-परम्परा की अनेक प्रति**—यदि ग्रन्थ की समान पाठ-परंपरा की अनेक प्रतियाँ प्राप्त हों तो उनका मिलान कर उनके वंश-वृक्ष का निर्माण करना चाहिए। इस वंश-वृक्ष-निर्माण की विधि हम पीछे दे आये हैं। इस वंश-वृक्ष के आधार पर हमें प्रतियों की पीढ़ियाँ तथा उनके प्राप्त एवं अप्राप्त आदर्शों का ज्ञान हो जायेगा। यदि समस्त प्रतियों का कोई एक आदर्श है और वह प्राप्त है, तो शेष प्रतियों की उपेक्षा कर इस आदर्श के पाठ को यथार्थ रूप में पाठालोचक को प्रस्तुत कर देना है। यदि यह आदर्श प्रति कहीं पर त्रुटित आदि है, तो उस स्थल पर अन्य प्रतियों में से सर्वाधिक महत्त्व की प्रति का उपयोग किया जा सकता है।

उपर्युक्त के विरुद्ध यदि प्रतियों का आदर्श अप्राप्त है, तो उसके पाठ का निर्धारण करना होगा। पाठ-निर्धारण की विधियों की चर्चा आगे की जाएगी।

(३) **विभिन्न पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियाँ**—इस स्थिति में प्रतियों के वंश-वृक्ष में अनेक स्वतन्त्र शाखाएँ प्रकट होंगी और पाठों के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिस्थितियाँ हो सकती हैं :—

(क) पहली परिस्थिति यह है कि पाठ-भेद कवि कृत हैं और इन पाठ-भेदों में कोई विकास-क्रम है। यह संभव है कि अपनी मूल रचना में कवि ने कालांतर में अनेक संशोधन किये हों और प्रत्येक बार के संशोधन से एक नवीन पाठ-परम्परा विकसित हुई हो। डिमास्थनीज के व्याख्यानों की ऐसी दो परम्पराएँ प्राप्त हैं। इनमें से एक उसके व्याख्यान के दिए गये रूप की है और दूसरी उनके प्रकाशन के लिए तैयार रूप की है। इसी प्रकार लैटिन में मार्शियल के एपीग्राम की तीन

$\alpha \beta \lambda$ परम्पराएँ भी कविकृत मानी जाती हैं। संस्कृत में भंडारकर तथा टोडरमल ने भवभूति की **मालतीमाधव** तथा **महावीर चरित** की दो प्राप्त परम्पराओं को कविकृत माना है। इसी प्रकार **मानस** की चार-पाँच परम्पराओं को डॉ० गुप्त ने कविकृत माना है। आधुनिक काव्य के प्रेस-संस्करणों में भी ऐसा कभी-कभी हुआ है। प्रसाद के कई ग्रन्थ—**आँसू**, **अजातशत्रु** तथा **हरिऔध** के **प्रिय-प्रवास** के संस्करणों में भी कवियों ने परिवर्तन किए हैं।

ये पाठ-सुधार अथवा पाठ की विभिन्न परम्परायें कविकृत हैं, इसे मानने की तीन कसौटियाँ हैं :—

(१) बाद के संशोधित पाठ पूर्व के पाठ से उत्कृष्टतर हों।
(२) प्राचीन तथा नवीन दोनों पाठ कवि-प्रयोग-सम्मत हों।
(३) दोनों पाठों में प्रयोग की दृष्टि से अन्तर न हो।

इन प्रमाणों के अभाव में उपर्युक्त तथ्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है। साथ ही साथ इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना होगा कि उत्कृष्टतर पाठ कुछ विशेष स्थलों पर ही नहीं, वरन् समस्त संशोधित स्थलों पर होना चाहिए, क्योंकि कुछ स्थलों पर ही संशोधनों द्वारा पाठों का उत्कृष्टतर होना अन्यों द्वारा भी संभव है। मालतीमाधव की दक्षिणी शाखा में कई स्थलों पर उत्कृष्टतर पाठ वहाँ के पंडितों द्वारा निर्मित हुआ है। **मानस** के सम्पादन में चारों शाखाओं को इस क्रम से रखा गया है कि एक का संशोधित पाठ अपने पूर्व पाठ से उत्कृष्टतर तथा कवि के मूल प्रयोगों से सिद्ध भी है। इसके अतिरिक्त उसमें दो छोरों के पाठ-निश्चय से भी बड़ी सरलता पड़ी है। ये समस्त संशोधित पाठ कवि की मूल प्रवृत्तियों के अनुसार हैं। शंका की संभावना अन्तिम स्थिति के पाठ के सम्बन्ध में हो सकती है, किन्तु वह एक अन्य स्वतन्त्र शाखा द्वारा प्रामाणित है, इसलिये ऐसी कोई कठिनाई नहीं है।

(ख) दूसरी परिस्थिति वह है जिसमें पाठ-परम्परा के संशोधनों में कोई विकास क्रम न दिखलाई पड़े, अर्थात् जब पाठ-संशोधन अन्य कृत हों। यह भिन्नता स्थान तथा काल भेद से और वह भी विस्तृत पाठ-परम्परा वाले लोक प्रचलित प्राचीन ग्रन्थों में हो जाती है। **रामायण** की उत्तरी, दक्षिणी, कश्मीरी, नैपाली, बंगाली शाखायें मिलती हैं। **मालतीमाधव** की उत्तरी तथा दक्षिणी शाखायें प्राप्त हैं। **कबीर ग्रन्थावली** की राजस्थानी, पंजाबी, मध्यदेशीय और पूर्वी परम्परायें हैं। इस परिस्थिति में यदि कई स्वतन्त्र शाखायें हैं, तब तो पाठ-निर्धारण अपेक्षाकृत सरल होगा, पर यदि ये शाखायें कुल दो ही हुईं तो विशेष कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में पाठ-भेद के स्थलों पर कठिनाई होगी। यह कठिनाई सहायक सामग्री के उपलब्ध होने पर ही हल हो सकती है। **बीसलदेव रास** के संपादन में इसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न हुई। इसकी दो शाखाओं में एक ही स्थल पर प्रसंगानुकूल भिन्न-भिन्न पाठ एवं चरणांश मिलते हैं, जिनके कारण पाठ-निर्धारण बड़ा ही कठिन कार्य हो गया था।

(ग) तीसरी स्थिति वह होती है जिसमें पाठ-भेद कवि या अन्य कृत संशोधनों से उत्पन्न न होकर मूलादर्श में हुए पाठान्तर-जनित होते हैं। हाशिये या अन्यत्र लिखे हुए पाठान्तरों से यह स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में विभिन्न पाठान्तरों को स्वीकार करने में लेखानुसंगति और विषयानुसंगति का ध्यान रखना होगा।

(घ) पाठ की चौथी स्थिति पाठ-सुधार या पाठान्तर के कारण न होकर विभिन्न उद्देश्यों से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये पाठ-चयन से उत्पन्न हो सकती है। यह सम्भव है कि कबीर की विभिन्न परम्पराओं में जो पाठ उपलब्ध है वह चयन के कारण अपूर्ण हो। गुरुग्रन्थ साहब मुख्य रूप से सिक्ख गुरुओं की वाणी का संग्रह है। अन्य संतों की वाणी का इसमें प्राप्त संग्रह उन संतों की सम्पूर्ण वाणियों से चयन द्वारा ही हुआ होगा। इसी प्रकार सम्भवतः दादू पंथी, निरंजनी आदि लोगों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उनकी वाणियों का चयन किया हो और ये परम्परायें पूर्ण वाणी प्रकट करने वाली न हों। अतएव यह आवश्यक है कि प्रत्येक शाखा के प्रति यह निर्णय कर लिया जाए कि वह शाखा कवि का पूर्ण पाठ प्रस्तुत करती है या संक्षिप्त। इस सम्बन्ध में ध्यान यही रखना चाहिये कि संक्षेपण सामान्यतः मुक्तक काव्यों में होता है, प्रबन्ध काव्य में नहीं।

पाठ की विभिन्न परिस्थितियों के ज्ञान के उपरान्त पाठ-निर्धारण का कार्य प्रारम्भ होता है। पाठ-निर्धारण करते समय पाठालोचक को पाठालोचन की कुछ सामान्य मान्यताओं का ध्यान रखना पड़ता है, अतएव उन पर संक्षेप में विचार कर लेना अच्छा होगा।

पाठालोचन की सामान्य मान्यताएँ

(१) पाठालोचन की प्रथम मान्यता यह है कि अधिक प्रतियों का गण मूल पाठ से पहले विकसित होता है, कम प्रतियों का गण मूल पाठ से बाद में विकसित होता है। उदाहरणार्थ २० प्रतियों के यदि दो गण ११ और ९ प्रतियों के हैं, तो ११ प्रतियों वाले गण का पाठ मूल से पहले विकसित हुआ है तथा ९ प्रतियों वाले गण का पाठ मूल से बाद में विकसित हुआ है। इसका अर्थ हुआ कि ११ प्रतियों वाले गण में उपलब्ध पाठ ९ प्रतियो वाले गण में उपलब्ध पाठ से नवीन होगा।

(२) पाठालोचन की दूसरी मान्यता है कि पाठ-चयन की संभावना के निराकरण के उपरान्त संक्षिप्तर पाठ वृहत्तर पाठ की अपेक्षा मूल के अधिक निकट होता है। भारतीय साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति पाठ-वृद्धि की रही है। इसलिए यदि पाठ की लघु और बृहद् दो प्रकार की परम्परायें उपलब्ध हैं तो सम्भावना यही है कि लघु पाठ की परम्परा ही मूल के निकट की है। रासो की चार परम्पराओं में लघुतम परम्परा मूल के समीप ज्ञात होती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि पाठ-वृद्धि और पाठ-ह्रास संक्षिप्त और बृहद् दोनों ही परम्पराओं में सम्भव है। अतएव इस मान्यता का कड़ाई से पालन नहीं किया जा सकता है। फिर भी संक्षिप्त परंपरा

पाठ-निर्माण में अधिक सहायक होती है। महाभारत में शारदा-कश्मीरी संक्षिप्त परंपरा और दक्षिणी प्रतियाँ वृहद् परंपरा की हैं, किन्तु प्रक्षेपक दोनों ही में हैं। फिर भी मूलादर्श के निर्माण में संक्षिप्त परंपरा ही अधिक सहायक है। दक्षिणी परम्परा में प्रक्षेप विशेष हैं पर संक्षिप्त परम्परा के संदिग्ध स्थलों पर इसका पाठ-निर्धारण में विशेष महत्त्व है।

(३) पाठालोचन की तीसरी मान्यता यह है कि स्वीकृत पाठ विषयानुसंगति और लेखानुसंगति से सिद्ध होना चाहिए। प्रतियों के साक्ष्य के आधार पर पाठ-निर्धारण मात्र ही यथेष्ट नहीं है। यह आवश्यक है कि यह पाठ प्रसंग अर्थ, कवि-प्रयोग आदि की दृष्टि से ठीक बैठता हो और लेखन-सामग्री, लिपि आदि की दृष्टि से भी यह सिद्ध हो। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि विषयानुसंगति की दृष्टि से असिद्ध पाठ ही लेखानुसंगति की दृष्टि से सिद्ध होता हो और विषयानुसंगति की दृष्टि से सिद्ध पाठ लेखानुसंगति की दृष्टि से सिद्ध नहीं होता है। ऐसी स्थिति में पाठालोचक को विशेष कारणों के निर्देश के साथ विषयानुसंगति पाठ को ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि यह कहीं अधिक उपयुक्त है कि वह पाठ स्वीकार किया जाए जो कि कवि-सम्भव हो सकता है, अपेक्षाकृत उस पाठ के जो कि लेखानुसंगति होते हुए भी कवि द्वारा लिखा ही नहीं जा सकता है।

(४) पाठालोचन की चौथी मान्यता है कि दो समान रूप से सिद्ध सरल और कठिनतर पाठों में से सामान्यतः कठिन पाठ मूल के निकट होता है और उसे स्वीकार करना चाहिए। प्रतिलिपिकार सामान्य श्रेणी के व्यक्ति होते थे। संभावना यही है कि अपने समय के अप्रचलित और कठिनतर प्रयोगों को वे सरल पाठ से स्थानापन्न कर देते होंगे। कभी-कभी हाशिये में लिखे सरलार्थ को स्वीकार कर मूल के कठिनतर पाठ को भी वे छोड़ देते होंगे। अतएव सामान्यतः सरल पाठ के स्थान पर कठिनतर पाठ स्वीकार करना चाहिए। कठिन पाठों को सरल करने के अनेक उदाहरण कबीर-ग्रन्थावली में डॉ० पारसनाथ ने दिए हैं। उनमें से एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :—

पासि बिनंठा कापड़ा कदे सुरंग न होय।

पासि का अर्थ निकट, **बिनंठा** का अर्थ सड़ा-गला और **सुरंग** का अर्थ अच्छा रंग है। बिनंठा की जटिलता से बचने के लिए इसके निम्नलिखित सरल पाठान्तर कर दिये हैं—कपास अनूठा कापड़ा, पासि न जाके कापड़ा, कपास बिनूठा कापड़ा आदि।

इस सम्बन्ध में ध्यातव्य यह है कि कभी-कभी अपेक्षाकृत नवीन प्रतियों को प्राचीनता का बाना देने के लिए मूल पाठ को कठिनतर पाठ से बदल दिया जाता है। वंश-वृक्ष के अनुसार नीची स्थिति की प्रतियों में यदि कठिन पाठ मिले तो यही सम्भावना होती है।

(५) पाठालोचन की पांचवी मान्यता है कि पाठ-निर्धारण में प्रतियों की संख्या की गणना नहीं की जाती है, उनका मूल्यांकन किया जाता है। यदि दो शाखाओं में से एक में ५ प्रतियाँ और दूसरे में २ प्रतियाँ हैं तो एक शाखा का ५ प्रतियों में प्राप्त पाठ केवल इसीलिए नहीं मान लिया जायेगा क्योंकि वह ५ प्रतियों में प्राप्त है : इस परिस्थिति में एक शाखा की ५ प्रतियों का मूल्य दूसरी शाखा की २ प्रतियों से अधिक नहीं होगा। प्रतियों की संख्या के स्थान पर शाखाएँ महत्त्वपूर्ण है।

(६) पाठालोचन की छठी मान्यता है कि पाठ-निर्धारण में उच्चतम स्तर पर या पीढ़ी की ही प्रति महत्त्वपूर्ण होती है। पाठ-निर्धारण में प्रत्येक शाखा की उच्चतम स्तर की ही प्रति ली जाती है : उससे विकसित एवं निम्नतर स्तर की प्रतियों की पाठ-निर्धारण में उपेक्षा की जाती है।

(७) पाठालोचन की अन्तिम मान्यता यह है कि सामान्यतः अमिश्रित प्रतियों का ही साक्ष्य लिया जाता है। मिश्रित प्रतियों का प्रयोग वहीं पर किया जाता है जबकि उसमें किसी लुप्त शाखा का पाठ उपलब्ध हो।

पाठालोचन की इन मान्यताओं को दृष्टिगत रखते हुए पाठ निर्धारण के सामान्य सिद्धांतों के आधार पर पाठ-निर्धारण किया जाता है। इन सिद्धांतों का उद्देश्य ज्ञात से कविकृत अज्ञात पाठ, अथवा उपलब्ध से कविकृत अनुपलब्ध पाठ को प्राप्त करना है। इसके निम्नलिखित सिद्धांत हैं—

(क) कभी प्रतियों में समान रूप से प्राप्त पाठ उनके समान उद्गम की ओर संकेत करता है, जो कि असंदिग्ध रूप से कविकृत होता है।

Accident apart, identity of reading implies identity of source. The service of transmitted reading may, undboutedly, be the authors autograph.—postgate codices are to be weighed and not counted,

दूसरे शब्दों में विभिन्न स्वतन्त्र शाखाओं में जो पाठ समान रूप से उपलब्ध होता है उसे मूल कविकृत पाठ रूप में स्वीकार करना चाहिए। यदि इस पाठ में भी कुछ अशुद्धियों उपलब्ध हैं तो वे कविकृत हो सकती हैं, अथवा समस्त शाखाओं के कवि के पाठ से नीचे के आदर्श की ही हो सकती हैं। इन अशुद्धियों का निदशन और सुधार पाठालोचन पाठ-सुधार के अन्तर्गत करता है।

(ख) मिश्रण की सम्भावनाओं से युक्त दो या अधिक स्वतन्त्र शाखाओं का पाठ मूलपाठ होता है। यह सिद्धांत प्रथम सिद्धांत की ही उपपत्ति है। दो स्वतन्त्र शाखाओं का पाठ-साम्य उनके समान स्रोत के कारण ही हो सकता है, अतः मूल का होता है।

(ग) मिश्रण की संभावनाओं से मुक्त यदि दो या अधिक स्वतंत्र शाखाओं में से एक का कुछ विशिष्ट पाठ यदि अपने या दूसरे की संपूर्ण प्रतियों के उसी स्थल के पाठ से नहीं मिलता है, पर एक शाखा की कुछ प्रतियों के उसी स्थल के पाठ से मिलता है तो उसे भी मूल पाठ मान लेना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि एक स्वतंत्र

शाखा की क, ख, ग, घ प्रतियों में से एक विशिष्ट स्थल का क का पाठ ख, ग, घ से नहीं मिलता है, और दूसरी स्वतंत्र शाखा च, छ के उसी स्थल के छ के पाठ से मिलता है तो यह पाठ-साम्य उसे मूल का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

(घ) यदि कुल दो ही स्वतंत्र शाखाएँ हो और किसी विशिष्ट स्थल का दोनों में पाठ-भेद हो, और दोनों ही पाठ समान रूप से शुद्ध प्रतीत हों तो मूल पाठ का निर्णय करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में पाठालोचन की सामान्य मान्यताओं को ध्यान में रख अधिक विश्वसनीय प्रति का पाठ स्वीकार करना चाहिए। इस स्थिति में कविकृत संशोधन की संभावना का ध्यान रखते हुए उत्कृष्टतर तथा वह पाठ स्वीकार करना चाहिए जो कि दूसरे के विकास को समझा सके।

(ङ) यदि सभी शाखाओं में भिन्न-भिन्न पाठ मिले तो कवि-संभव संशोधनों की समस्या को दृष्टिगत रखते हुए भ्रष्ट पाठों को छोड़ दे तथा शुद्ध एवं पाठानुसंगति वाले पाठ स्वीकार करे।

(च) किसी एक ही शाखा में प्राप्त विशेष पाठ सामान्यतः प्रक्षेप होता है। यदि दो से अधिक स्वतंत्र शाखाएँ हैं तब तो कठिनाई नहीं होती, किंतु दो ही शाखाएँ हैं तो उस पाठ को लेखक की भाषा-शैली और प्रयोग के आधार पर सिद्ध होने पर ही स्वीकार करना चाहिए।

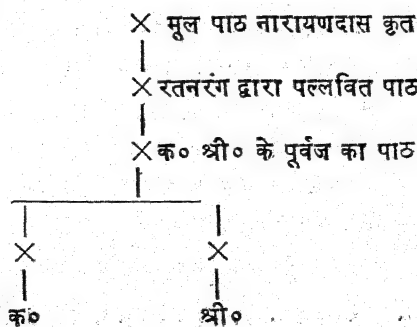
(छ) पाठानुसंगति से प्रक्षिप्त पर प्रसंग से अनिवार्य प्रतीत होने वाले पाठों को संदेह का निर्देश करते हुए ही स्वीकार करना चाहिए।

(ज) उपर्युक्त सिद्धांतों द्वारा स्वीकृत किंतु भ्रष्ट पाठ को पाठ-सुधार के उपरांत ग्रहण करना चाहिए और उसका निर्देश कर देना चाहिए।

उपर्युक्त सिद्धांतों के प्रयोग के लिए कोई काल्पनिक उदाहरण न लेकर यदि सुप्रसिद्ध संपादित ग्रन्थों का उदाहरण दिया जाये तो अधिक उपयुक्त होगा। इनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

छिताई वार्ता का पाठ-निर्धारण

छिताई वार्ता की केवल दो ही प्रतियां प्राप्त हैं, और वे भी एक ही शाखा की हैं इसलिए इसका पाठ-निर्धारण कुछ विशिष्ट स्थलों के अतिरिक्त सरल है। इसका वंशवृत्त निम्न प्रकार का है—

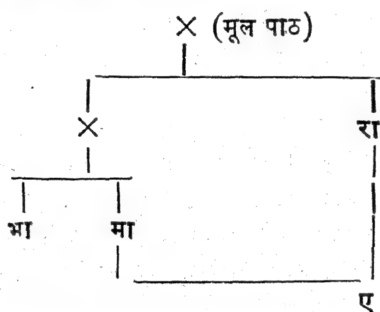


क० और श्री० का समान पाठ मूल पाठ है। इन दोनों द्वारा निर्धारित इस पाठ में छह (नौ) ? सामान्य अशुद्धियाँ हैं जो कवि कृत सम्भव प्रतीत नहीं होती हैं। अतएव इन अशुद्धियों के स्थल का पाठ-मूल से नीचे का है। पाठ-संशोधन द्वारा इन स्थलों के मूल पाठ का अनुमान किया गया है।

क० और श्री० के अन्तिम ८०-८५ छंद दोनों में भिन्न-भिन्न हैं। प्रश्न है कि इनमें से किस प्रति के छंद प्रामणिक हैं। इतिहास, भाषा, शैली और प्रयोग की दृष्टि से क० के छंद सटीक बैठते हैं, अतः क०क का पाठ ही स्वीकृत किया गया और श्री का पाठ परिशिष्ट में दे दिया गया है।

मधुमालती का पाठ निर्धारण

मधुमालती के चार प्रतियां प्राप्त हैं जिनमें से एक मिश्रित परंपरा की है। इसका वंशवृत्त निम्नलिखित प्रकार का है—



(१) जो पाठ समस्त प्रतियों में समान हैं, वह मूल पाठ है।

(२) जो पाठ मा०, भा० में से किसी एक में और रा० में है। वह मूल का है।

(३) जहाँ पर मा०, भा० में एक पाठ और रा० में दूसरा पाठ है, वहाँ पर दोनों में से जो पाठ-विषयक समस्त अन्तरंग और बहिरंग सम्भावनाओं की दृष्टियों से सम्भव ज्ञात हुआ है, वह स्वीकार किया गया है।

(४) ए० प्रति का पाठ दोनों शाखाओंके मिश्रण का परिणाम होने के कारण रचना के पाठ-निर्धारण के लिए उन्हीं स्थलों पर देखा गया है जहाँ पर मा० और भा. दोनों समान रूप से खंडित होने के कारण दो में वे किसी का भी पाठ प्राप्त नहीं है, और ए० का पाठ रा० के पाठ से भिन्न है।

(५) रचना के प्रथम छंद में केवल ए० का पाठ प्राप्त होने के कारण आवश्यक संशोधनों के साथ उसी को ग्रहण किया गया है।

(क)

बीसलदेव रास का वंशवृत निम्न प्रकार का है—

प॰ आ-चा की-पु ग्या
र ना
न
अ॰ व॰ मो म॰ मू॰ प्र स

(१) अ.ब. मो॰ अर्थात् अ॰ समूह म॰ तथा प॰ समूहों के पूर्ण मिश्रण का परिणाम है, इसलिए पं॰ तथा म समूह की विद्यमानता में सम्पादन में उसका आधार न ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उसके मूल उपादान प्राप्य हैं।

(२) न॰ पाठ पं॰ समूह के साथ म॰ समूह के किसी पूर्वज के मिश्रण का परिणाम है, इसलिए पं॰ तथा म॰ समूहों की विद्यमानता में इसका आधार भी न ग्रहण करना चाहिए।

(३) ग्या पर म॰ के किसी पूर्वज का प्रभाव स्पष्ट है, इसलिए पं॰ का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। पं॰ समूह का पाठ निर्धारित करने के लिये उस समूह की घोष प्रतियों का ही आश्रय लेना होगा।

(४) म॰ समूह का पाठ उक्त समूह की प्रतियों से निर्धारित होगा।

(५) इसी प्रकार स॰ समूह का पाठ उक्त समूह की प्रतियों से निर्धारित होगा।

(६) पं॰ समूह का म॰ समूह के किसी पूर्वज का ऋणी है, इसलिये अन्य कारणों के अभाव में इन दोनों सापेक्ष समूहों का पाठ-साम्य मात्र पाठ की प्रामाणिकता के लिये निर्णयात्मक नहीं हो सकेगा।

(७) म॰ समूह का पाठ स॰ समूह के किसी पूर्वज का ऋणी है, इसलिए अन्य कारणों के अभाव में इन सापेक्ष समूहों का भी पाठ-साम्य मात्र प्रामाणिकता के लिये निश्चयात्मक नहीं हो सकता।

(८) पं० समूह का पाठ स० समूह का अथवा उसके किसी पूर्वज का ऋणी नहीं है, इसलिये इन दोनों समूहों का पाठ-साम्य मात्र पाठ की प्रामाणिकता के लिए साधारणतः प्रामणिक माना जाना चहिये ।

(९) जिन विषयों में म० पं० तथा स० तीनों समूहों में पाठ साम्य है, उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध मानी चाहिये ।

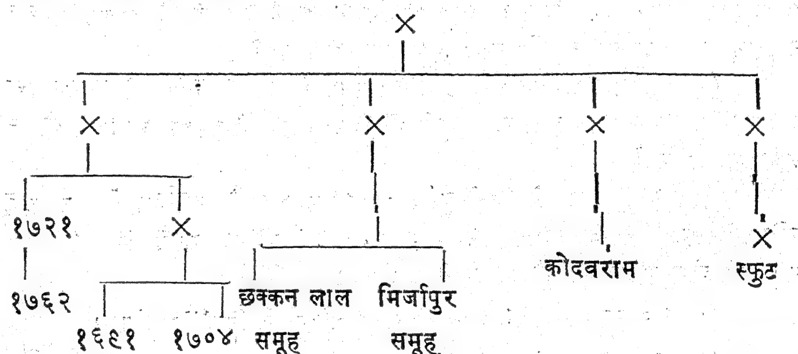
(१०) जिन विषयों म० तथा पं० समूह का एक मत हो और स० भिन्न हो अथवा म० तथा स० समूह एकमत हों, और पं० समूह भिन्न हो, उन विषयों में शेष समस्त बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाओं के साक्ष्य से ही पाठ-निर्णय करना चाहिये ।

बीसलदेव रास के सम्पादन में कुल १२८ छंदों को प्रामणिक माना गया है। इनमें से ११८ तो म० पं० और स० तीनों समूहों में पाये जाते हैं, और केवल १० ऐसे हैं जो पं और स० समूहों में पाये जाने के कारण प्रामाणिक मान लिए गए हैं ।

मानस का पाठ-निर्धारण

मानस की प्रतियों के अध्ययन द्वारा डॉ० गुप्त ने सिद्ध किया है कि विभिन्न प्रतियों में प्राप्त पाठांतर कविकृत तथा एक विकास क्रम में हैं ।

यदि हम प्रतिलिपि तथा पाठान्तर संबंध के अनुसार प्रतियों की स्थिति देखें तो निम्न प्रकार की वंश-परंपरा बनती ।

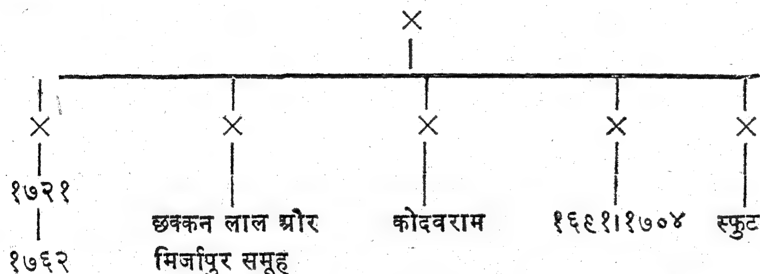


इस वंश-वृक्ष में प्रथम शाखा में १७२१, १७६२ तथा १६६१, १७०४ की प्रतियाँ, दूसरी शाखा में छक्कन लाल तथा मिर्जापुर समूह की प्रतियाँ, तीसरी शाखा में कोदवराम की प्रतियों और चौथी शाखा में स्फुट प्रतियाँ हैं । प्रथम शाखा की प्रतियों में परस्पर प्रतिलिपि-संबंध भी है । शेष शाखाएँ स्वतंत्र है ।

प्रतिलिपि के अतिरिक्त शुद्ध पाँठातरों की दृष्टि से इन प्रतियों और शाखाओं में एक विकास-क्रम ज्ञात होता है । यह क्रम इस प्रकार है :

१७२१/१७६२—छक्कनलाल/मिर्जापुर—कोदवराम—१६६१/१७०४ इस निष्कर्ष का कारण यह है कि १७२१/१७६२ तथा १६६१/१७०४ में यद्यपि प्रति-

लिपि-संबंध है, किंतु पाठ की दृष्टि से ये दोनों दो छोरों पर स्थित हैं। पाठ-विकास के उपर्युक्त क्रमानुसार १७२१/१७६२ से चलने पर कुछ पाठ-भेद ऐसे हैं जो कि छक्कन लाल आदि समस्त शाखाओं में मिलते हैं; कुछ ऐसे हैं जो कि केवल कोदवराम तथा १६६१/१७०४ में मिलते हैं; और कुछ ऐसे हैं जो कि केवल १६६१/१७०४ में ही मिलते हैं। इस प्रकार पाठ की दृष्टि से यदि संबंध-निर्धारण करना चाहें तो वह निम्न प्रकार का होगा :



प्रश्न उठता है कि १७२१/१७६२ तथा १६६१/१७०४ में प्रतिलिपि संबंध होने पर भी यह भिन्न पाठ क्यों है? इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रतिलिपि होने के बाद १७२१/१७६२ अथवा १६६१/१७०४ में से किसी एक में किसी स्वतंत्र शास्त्र का पाठ-मिश्रण हुआ है। यह स्वतंत्र शाखा स्फुट मान ली गई है। अब १६६१/१७०४ में इसके मिश्रण द्वारा पाठ-भेद तो हुआ पर प्रतिलिपि की अशुद्धियाँ वैसी की वैसी ही रह गई, और प्रतिलिपि-संबंध-निर्धारण में सहायक हुई। इस प्रकार १६६१/१७०४ प्रतिलिपि से संबंधित होते हुए भी पाठ की दृष्टि से एक स्वतंत्र शाखा का पाठ देने वाली हो गई है। इस पाठ-विकास-क्रम को इस प्रकार समझाया जा सकता है। १७२१/१७६२ में कवि का मूलपाठ है। कवि ने इस पाठ का संशोधन किया होगा। इस संशोधित पाठ से छक्कन लाल। मिर्जापुर समूह की परम्परा विकसित हुई होगी। कुछ काल उपरांत इस संशोधित पाठ का पुनः संशोधन किया गया होगा जिससे कोदवराम की पाठ-परंपरा का विकास हुआ। कोदवराम के पाठ के बाद पुनः कवि ने शायद अंतिम बार संशोधन किया जिससे स्फुट शाखा का विकास हुआ। इस शाखा के पाठ से १६६१/१७०४ का कभी मिश्रण हुआ और अब कवि का अंतिम पाठ इस मिश्रित में रूप में ही प्राप्त हैं। इस प्रकार पाठ की दृष्टि से १७२१/१७६२ तथा १६६१।१७०४ दो छोरों का पाठ देते हैं।

इन पाठ-सुधारों को कविकृत मानने का कारण है। इन पाठ-भेदों में से ८०-९० प्रतिशत पाठ अपने पूर्ववर्ती पाठ से उत्कृष्टतर हैं। शेष १०-२० प्रतिशत पाठ भी अपने पूर्ववर्ती पाठ से हीन नहीं हैं। १७२१ से १६६१ के पाठ के इस क्रम को पाठ-संस्कार-क्रम और १६६१ से १७२१ के पाठ-क्रम को पाठ-विकृत-क्रम कहा जा सकता है। इस पाठ-शृंखला के बाहर जो पाठान्तर आते हैं वे निश्चित रूप से निकृष्ट हैं,

अतः यह सिद्ध होता है कि पाठ-क्रम के पाठ शुद्ध तथा कवि कृत हैं। इस स्थिति पर पहुंचने के बाद पाठ-निर्माण कार्य सरल है।

मानस के पाठ-निर्धारण में अलग-अलग शाखाओं के पाठ-निर्धारण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके दो छोरों का पाठ हमें उपलब्ध है। अतः इसका पाठ-निर्धारण निम्नलिखित प्रकार से किया गया है :—

(१) १७२१।१७६२ तथा १६६१।१७०४ का पाठ-साम्य मूलपाठ हैं।

(२) जहाँ इनमें पाठ-भेद है, वहाँ ये पाठ दो छोरों के मान लिए गए हैं।

(३) १७२१ तथा १७६२ के भिन्न पाठों में १७२१ का पाठ प्रामाणिक है।

(४) १६६१ तथा १७०४ के भिन्न पाठों में से जो पाठ १७२१।१७६२ से मिलता है वह प्रामाणिक है।

(५) १६६१।१७०४ का उक्त स्थिति की अन्य प्रतियों में से जो पाठ १७२१।१७६२ से मिलता है, वह प्रामाणिक है।

(६) १६६१ तथा १७०४ यदि भिन्न पाठ देती हैं, तथा ये पाठ १७२१।१७६२ से नहीं मिलते हैं, किंतु इनमें से कोई पाठ उक्त स्थिति की अन्य प्रतियों का पाठ देता है तो यही प्रामाणिक पाठ है।

(७) यदि पाठ-भेद लिपि या अन्य किसी प्रसाद के कारण है तो संगत पाठ शुद्ध माना जाएगा।

(८) १७०४ के किष्किंधा कांड में कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जो कि १७२१।१७६२ में नहीं हैं। १७०४ के अरण्य कांड में भी इसी प्रकार की पंक्तियाँ है, किंतु ये पंक्तियां इसी स्थिति की अन्य प्रतियों में भी नहीं हैं। अतः ये अप्रामाणिक मानी गई हैं।

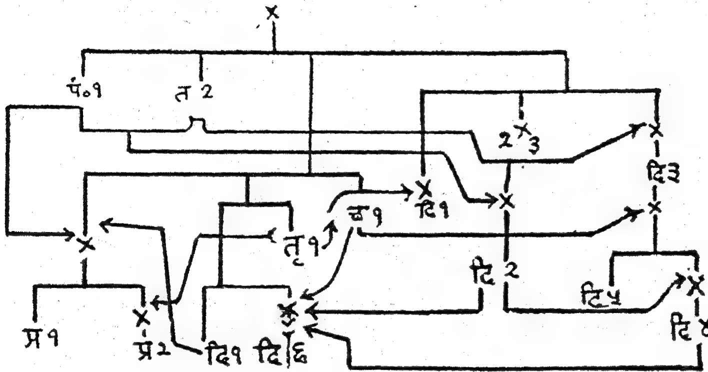
(९) उत्तरकांड में १७०४ का उत्तरार्ध पूर्णरूप से बदला हुआ होने के कारण यह किया गया है कि जहाँ पर उसकी स्थिति की अन्य प्रतियों का तथा १२२१।१७६२ का पाठ-भेद किसी प्रमाद वश ज्ञात होता है तो संगत और शुद्ध प्रतीत होने वाला पाठ ही प्रामाणिक माना गया है। उदाहरणार्थ :

१२२१।१७६२ की प्रति	छक्कन लाल, कोदवराम आदि		१६६१।१७०४	मान्य पाठ
साज	साज, राज	राज	साज	साज
प्रभु	प्रभु	हरि	हरि	दो छोरों का पाठ
सुकृति।सुकृत	सुकृत	सुकृत	सुकृत	सुकृत
गादुर	गादुर, दादुर	दादुर	दादुर।गादुर	गादुर

मानस के पाठ-निर्धारण में पाठ-विकास-क्रम के कविसिद्ध होने से, तथा दोनों छोरों का पाठ निर्धारित होने के कारण शुद्ध पाठ का निर्णय उक्त प्रकार से किया गया है।

पद्मावत का पाठ-निर्धारण

पद्मावत की अधिकतर प्रतियों में पाठ-मिश्रण हुआ है, किंतु सौभाग्य से स्वतंत्र शाखा की सबसे ऊपर की पीढ़ियों की प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं जिनमें मिश्रण नहीं है। अतएव पाठ-निर्धारण का कार्य अत्यंत सरल हो गया है। पद्मावत की प्रतियों का वंश-वृक्ष निम्नलिखित है :—



चित्र

इस वंश-वृक्ष से स्पष्ट है कि प्रतियों की पीढ़ियाँ निम्नानुसार है :—

(१) पं०, तृ०^{१}, तृ०,^{२} तृ०^{३}: च०

(२) द्वि०^{१}, द्वि०^{२}, द्वि०^{३}

(३) द्वि०^{४}, द्वि०^{५}, द्वि०^{७}

(४) द्वि^{६}, प्र०^{१}, प्र०^{२}

इसके साथ ही साथ प्रथम पीढ़ी की प्रतियाँ प्राय: स्वतंत्र प्रतिलिपियाँ, अथवा स्वतंत्र प्रतिलिपियों की परंपरा में हैं। दूसरी पीढ़ी की प्रतियाँ प्रथम पीढ़ी की उक्त प्रतियों की प्रतिलिपि परंपरा में है। इसी प्रकार तीसरी दूसरी की, और चौथी तीसरी की प्रतिलिपि परंपरा में ह। सौभाग्य से प्रथम पीढ़ी की प्रतियों में मिश्रण भी नहीं हुआ है, अत: पाठ-निर्धारण में उन्हीं का मुख्य रूप से उपयोग होना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर दूसरी पीढ़ी की प्रतियों की भी, किंतु उनके संबंधों को समझ कर सहायता ली जा सकती है; तीसरी की सहायता पाठ-निर्धारण में यथासंभव

न लेनी चाहिए, और चौथी पीढ़ी की तो अवश्य ही न लेनी चाहिए।

पाठ-निर्धारण में चारों शाखाओं का पाठ मूल होगा।

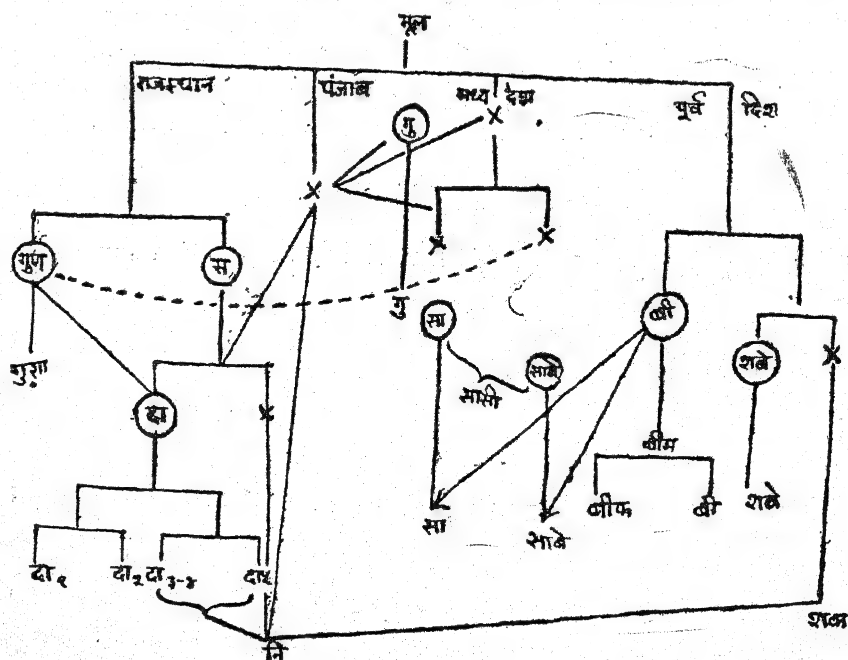
तीन शाखाओं का समान पाठ मूल पाठ होगा।

यदि दो शाखाएँ एक पाठ देती हैं, और दो अन्य शाखाएँ दूसरा पाठ देती है, और एक पाठ से दूसरे पाठ का विकास दिखाया जा सकता है तो प्रथम पाठ स्वीकार किया जाएगा।

यदि दो-दो शाखाएँ आपस में समान पर एक दूसरे से भिन्न पाठ देती है, और अंतरंग तथा बहिरंग संभावनाएँ दोनों में समान है तो स्वीकृत पाठ संदिग्ध होगा।

कबीर का पाठ-निर्धारण

डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर की पाठ परम्परा का निर्माण कर उसके पाठ का निर्धारण किया है। उसकी पाठ-परम्परा का चित्र और पाठ-निर्धारण के सिद्धांत नीचे दिए जा रहे हैं, जो कि स्वयमेव स्पष्ट हैं।



(१) जो पद, साखी, अथवा रमैनी केवल उन प्रतियों में मिलती है जिनमें संकीर्ण संबध सिद्ध हो चुका है, उनको (उनकी प्रामाणिकता नितांत रूप से निश्चित न होने के कारण) मूल वाणी के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता, और

(२) इसके विपरीत जिन दो या दो से अधिक प्रतियों में विकृति साम्य नहीं मिलता, उनमें मिलने वाली रचनाओं को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अपवाद स्वरूप (क) केवल दा० गु० अथवा नि० गु० समुच्चयों में मिलने वाली रचनाएं प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, तथा (ख) दा० नि० गु० में मिलने वाली रचनाएं अप्रमाणिक नहीं मानी जा सकती हैं।

(३) सभी प्रतियों में प्राप्त पाठ मूल पाठ है।

(४) यदि कोई पाठ किसी एक प्रति में, अथवा दो या दो से अधिक ऐसी प्रतियों में मिलता है जिनमें संकीर्ण संबन्ध सिद्ध हो चुका है, और उसके स्थान पर अन्य कोई पाठ किन्हीं ऐसी प्रतियों द्वारा प्रस्तुत होता है जिनमें परस्पर संकीर्ण सम्बन्ध नहीं स्थापित हुआ है तो दूसरा पाठ सिद्धान्ततः स्वीकृत किया गया है और उसकी तुलना में पहला पाठ अस्वीकृत किया गया है। यदि किसी समुच्चय में एक ही परिवार की विभिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न पाठ मिलते हों तो उनमें से वही पाठ-स्वीकृत किया गया है जो उक्त परिवार के अतिरिक्त अन्य स्वतन्त्र प्रतियों में भी मिलता है।

(५) जब दो स्वीकृत समुच्चय दो विभिन्न पाठ प्रस्तुत करें और ऊपर से देखने में दोनों का महत्त्व समान ज्ञात हो तब समस्या कठिन हो जाती है। ऐसे अवसर पर उन प्रतियों का पाठ अधिक प्रामाणिक माना गया है, जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध की संभावना दूसरे वर्ग की अपेक्षा कम मिलती है।

उदाहरणार्थ, दा० नि० गु०—एक पाठ

दा० शबे० या स० शबे०—दूसरा पाठ—

अधिक प्रामाणिक क्योंकि दा० नि० गु० प्रतियां लेखक परंपरा की दृष्टि से एक दूसरे के कुछ अधिक निकट की सिद्ध हुई हैं और उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान की संभावना भी मानी जा सकती है किन्तु स० शबे० अथवा दा० शबे० इतने दूर की सिद्ध होती है कि उनमें किसी प्रकार के आदान-प्रदान की तनिक भी संभावना नहीं रह जाती। अतः उनके साक्ष्य विशेष रूप से मान्य हैं।

(६) लिपि-भ्रम की दृष्टि से देख लिया गया है कि अन्य पाठांतर नागरी, फारसी आदि लिपि-विकृति के कारण हुए हैं, और मूल पाठ वास्तव में वही होना चाहिए जिसे प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया गया है।

(७) सामान्यतः ऐसे पाठ स्वीकार किए गए हैं जिनमें पुनरुक्ति दोष न हो। कहावत और मुहावरे इसके अपवाद हैं।

(८) प्रसंग की दृष्टि से क्लिष्टतर तथा अप्रचलित पाठ स्वीकार किया गया है।

(९) भाषा की दृष्टि से पूर्वी प्रयोग के निकट वाला पाठ स्वीकार किया गया है।

(१०) व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध पाठ स्वीकार किया गया है।

(११) प्राप्त पाठों में रचना में प्रतिपादित सिद्धाँत तथा कवि-समय के अनुकूल पाठ को उनके विरोधी की तुलना में स्वीकार किया है।

(१२) साम्प्रदायिक प्रभाव से मुक्त पाठांतर स्वीकार किया है।

(१३) तुक-युक्त पाठ स्वीकार किया है।

(१४) प्रतियों की पाठ-स्थिति की दृष्टि से समान पाठों में से प्राचीनतम प्रति का पाठ स्वीकार किया गया है।

(१५) यदि कोई शब्द किसी विशेष प्रसंग में एक से अधिक स्थलों पर एक ही प्रकार प्रयुक्त हुआ हो, और इसी प्रकार के प्रसंग में अन्यत्र कहीं उसका भिन्न रूप मिल जाता हो तो सिद्धांततः उसे अस्वीकृत कर उसका वही सामान्य रूप स्वीकृत किया जाना चाहिए जो अधिकांश स्थलों पर मिलता है।

(१६) सरल अर्थ वाले शब्द के स्थान पर दुर्बोध अर्थ वाले शब्द को स्वीकार किया गया है।

हिन्दी ग्रन्थों के पाठ-निर्धारण में प्रयुक्त उपर्युक्त सिद्धान्तों के उपरांत संस्कृत के दो अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ महाभारत पंचतन्त्र के पाठ-निर्माण के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय भी उपयोगिता की दृष्टि से किया जा रहा है।

महाभारत के पाठ-निर्धारण में प्रयुक्त सिद्धान्त

डॉ० सुखथांकर ने आदिपर्व के पाठालोचन में पाठ-निर्धारण के निम्नलिखित सिद्धान्तों का उपयोग किया है :

(१) शुद्ध पोथियों का पाठ सामान्यतः नहीं छोड़ा गया है।

(२) संशोधन की जगह व्याख्या को महत्त्व दिया गया है। यदि विभिन्न स्वतन्त्र शाखाओं में व्याकरण या मुहावरों की अशुद्धियाँ समान रूप से मिलती हैं तो उन्हें शुद्ध माना गया है।

(३) वह पाठ अधिक शुद्ध माना गया है जो अन्य पाठ-भेदों का विकास बता सके। यदि यह सम्भव नहीं है तो स्वतन्त्रशाखाओं में प्राप्त पाठ तथा सन्दर्भ में लगने वाला पाठ मान्य हैं।

(४) विषयानुसंगति तथा लेखानुसंगति से यदि दो पाठ समान महत्त्व के लगते हैं, तो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र, प्राचीन, संक्षिप्त और अमिश्रित कश्मीरी पाठ कामचलाऊ रूप में स्वीकार किया गया हैं।

(५) क्योंकि महाभारत की उत्तरी तथा दक्षिणी परम्पराओं में मिश्रण की सम्भावनाएँ कम हैं, इसलिए उत्तरी तथा दक्षिणी रूपान्तरों में प्राप्त समान पाठ को मूल का माना गया है चाहे इसमें पुनरुक्ति ही क्यों न हुई हो। उदाहरण स्वरूप दोनों ही रूपान्तरों में प्रथम और चतुर्थ अध्याय एक ही श्लोक से प्रारम्भ होते हैं, तथा पांडु की मृत्यु की कथा दोनों में दो स्थलों पर, प्रथम भवन में पांडु के साथ माद्री का सती होना तथा द्वितीय में पांडु का शव राजधानी में लाया जाता है तब वहां माद्री

का सती होना है। सबसे अधिक स्वतन्त्र शाखाओं में प्राप्त होने के कारण इसे स्वीकार कर लिया गया है।

(६) इसी प्रकार उत्तरी रूपान्तर के किसी उपरूपांतर का पाठ दक्षिणी रूपान्तर के पाठ से, या इसके विलोम रूप में दक्षिणी रूपांतर के किसी उपरूपांतर का पाठ उत्तरी रूपांतर के पाठ से मिलता है तो इस पाठ को स्वीकार कर लिया गया है।

(७) यदि समस्त साक्ष्यों के आधार पर उत्तरी तथा दक्षिणी रूपान्तरों के पाठ समान महत्त्व के लगते हैं तो कामचलाऊ पाठ के रूप में उत्तरी रूपांतर का पाठ स्वीकार कर लिया गया है।

(८) जब उपर्युक्त नियम भी नहीं लगते हैं तो कठिन तथा वह पाठ स्वीकार किया गया है जो दूसरे का विकास बतला सके।

पंचतन्त्र के पाठ निर्धारण में प्रयुक्त सिद्धांत

पंचतन्त्र का प्रथम पाठालोचन हर्टल ने किया था। इजर्टन ने उनकी अनेक भूलों का उद्‌घाटन कर उसका पुनर्निर्माण किया। पंचतन्त्र के इस पुनर्निर्माण में प्रयुक्त सिद्धान्तों को नीचे दिया जा रहा है। पंचतन्त्र का वंश-वृक्ष पीछे दिया जा चुका है।

(१) समस्त रूपान्तरों में समान रूप से प्राप्त पाठ मूल पाठ है।

(२) हितोपदेश तथा बृहत्कथा रूपान्तर में अप्राप्य सामग्री का महत्त्व नहीं है। हितोपदेश में पंचतन्त्र की सामग्री को भिन्न क्रम से रखा गया है; अतः उसमें अप्राप्य पर अन्य रूपांतरों में प्राप्य सामग्री को मूल का माना गया है। बृहत्कथा मंजरी की स्थिति कुछ भिन्न है। इसमें लगभग सभी कथाएँ हैं, पर संक्षेप में। अतः अनेक वाक्यांश आदि का इसमें प्राप्त न होना यह सिद्ध नहीं करता कि वे मूल के नहीं हैं।

(३) कुछ (सब नहीं) स्वतन्त्र रूपान्तरों में साधारण अंशों का साम्य यह निश्चित नहीं करता है कि वे मूल के ही हैं, क्योंकि यह सम्भव है कि वे स्वतन्त्र रूप से हो गया हो गए हों इसके लिए विभिन्न रूपाँतरों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना होगा। उदाहरणार्थ दक्षिणी रूपान्तर लगभग मूल रूप में ही है। बृहत्कथा तथा पहलवी में क्षेपक बहुत कम हैं। अतः दक्षिणी रूपान्तर, सोमदेव अथवा पहलवी और किसी अन्य स्वतन्त्र शाखा में प्राप्त अंश मूलपाठ की ओर संकेत करते हैं।

(४) मूल पाठ की सम्भावना स्वतन्त्र रूपान्तरों के साम्य के महत्त्व तथा निकटता के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। क्षेपक की सम्भावना छोड़कर महत्त्वपूर्ण अंशों में विभिन्न रूपान्तरों साम्य मूल की ओर संकेत करता है। कभी-कभी कुछ साम्य केवल दो रूपान्तरों में ही प्राप्त हैं। अतः यह सम्भावना हो सकती है कि क्षेपक के स्थान पर वह सम्भवः मूल के अंश हैं जो कि अन्य रूपान्तरों में छूट गए हैं।

(५) अनेक स्वतन्त्र रूपान्तरों में प्राप्त सम्पूर्ण कथाएं मूल की हैं।

(६) उपर्युक्त सिद्धान्त गद्यांश, वाक्य वाक्यांश तथा शब्दों के लिए भी सत्य हैं।

(७) एक ही रूपाँतर की विभिन्न शाखाओं का साम्य महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु यदि रूपांतर उस स्थल पर मौन हैं, (कोई अन्य पाठ-भेद नहीं हैं) तब यह कहना कि वह अंश मूल का नहीं है, कठिन है, क्योंकि यह सम्भव है कि तीनों रूपांतर के आदर्श में वह अंश छूट गया है। ऐसे स्थल पर यह स्मरण रखना चाहिये कि दक्षिणी रूपांतर तथा बृहत्कथा रूपांतर में संक्षिप्तीकरण हुआ है तथा पह्लवी का प्राप्त रूपांतर भी भ्रष्ट हैं। अतः तंत्राख्यायिका प्रचलित परम्परा, पूर्णभद्र के आदर्श में यदि कोई अंश मिलता है जो कि लेखक नहीं है तो उसे संदिग्ध रूप में मूल का मान सकते हैं। यह बात केवल क्षुद्र और साधारण अंशों के लिए ही सत्य है, क्योंकि महत्त्वपूर्ण अंशों का छूटना असम्भव सा ही है। अतः पूरी कथाओं के लिए यह सिद्धांत लागू नहीं हैं। नीति श्लोक भी विभिन्न रूपांतरों में जोड़े अथवा छोड़ दिए गए हैं। अतएव गद्यांश की भांति ही इनकी प्रामाणिकता का भी निर्णय किया गया है।

पाठ-निर्धारण के उपर्युक्त प्रयुक्त सिद्धांतों के अध्ययन द्वारा सामान्य-सिद्धांतों का ज्ञान हो गया होगा। इन सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित पाठ प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर प्राचीनतम और मूल के निकटतम पाठ होता है। फिर भी सम्भव है कि इस निर्धारित पाठ में स्वल्प ऐसे पाठ हों जो कि भ्रष्ट हों या कविकृत नहीं प्रतीत होते हो। अतः यह सम्भावना रह जाती है कि प्राप्त पाठ कवि का नहीं है। जब पाठालोचक प्राप्त साक्ष्यों से ऊपर उठ कर कवि के पाठ को प्राप्त करने के लिए भ्रष्ट पाठों को सुधारता है तो उसे पाठ सुधार कहते हैं। इसका अध्ययन हम अगले अध्ययन में करेंगे।

: ६ :

पाठ-सुधार

पाठ-निर्धारण द्वारा प्राप्त पाठ प्रतियों के आधार पर प्राचीनतम पाठ होता है। इस पाठ की परीक्षा करने पर पाठालोचक के सम्मुख चार परिस्थितियाँ आ सकती हैं। प्रथम परिस्थिति के अनुसार वह उक्त निर्धारण पाठ को स्वीकार कर लेता है क्योंकि कवि की भाषा, शैली, प्रयोगादि के अनुसार वह पाठ कविकृत प्रतीत होता है। दूसरी परिस्थिति में सदिग्ध रूप से स्वीकृत पाठ आता है। यह पाठ ऐसा है जिसके कविकृत होने के प्रमाण असंदिग्ध नहीं है, फिर भी जिसे संदिग्ध रूप से कवि का पाठ मानकर स्वीकार किया जा सकता है। तीसरी परिस्थिति वह है जिसमें पुर्निमित पाठ को कुछ संदेशों के कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस अस्वीकृत का कारण यह हो सकता है कि पास कवि की भाषा-शैली, छंद और प्रयोग-योजना के विरुद्ध पड़ता है, अथवा इस स्थल पर अर्थानुसंगति नहीं बैठती है। यदि ऐसा पाठ लिपि-प्रमादि आदि के द्वारा शुद्ध नहीं किया जा सकता तो इसे त्याग दिया जाता है। चौथी स्थिति में प्राप्त पाठ प्रत्यक्षतः भ्रष्ट, अर्थानुसंगति का विरोधी होता हैं। इस पाठ को किसी भी प्रकार कवि कृत मानना संभव नहीं होता है, और इसलिए उसे अस्वीकार करना होता है।

अन्तिम दो परिस्थितियों में प्रश्न उठता है कि पाठालोचक का कर्तव्य क्या है और पाठालोचन की सीमा कहाँ तक है? क्या पाठालोचक का कार्य प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर प्राप्त प्राचीनतम पाठ मात्र होता है, इस पाठ की उपलब्ध करने के बाद उसके कर्तव्य की इति श्री हो जाती है; अथवा उसका कार्य कवि-कृत पाठ का अनुसंधान है। यदि उसका कार्य केवल पाठ-निर्धारण मात्र है तो यह सरल है। ऐसे पाठ में प्रतिलिपि जनित, प्रसंग-जनित, एवं संपादन जनित वे समस्त अशुद्धियाँ स्वीकार कर ली जायेंगी जो कि प्राप्त प्रतियों के कवि के पाठ के मूल आदर्श में प्राप्त थीं। इस प्रकार से प्राप्त पाठ प्राचीन पाठ तो अवश्य होगा पर यह आवश्यक नहीं कि वह कवि कृत भी हो। इसके विपरीत यदि पाठालोचक का कार्य कवि-कृत पाठ को उपलब्ध करना है तो वह प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर प्राप्त ऐसे पाठों को अस्वीकार कर देगा जो कि किसी भी प्रकार कवि-कृत संभव नहीं हैं, और कुछ पुष्ट तथा तर्क सम्मत प्रमाणों के आधार पर कवि-कृत पाठ का अनुमान लगाने का प्रयत्न करेगा। कविकृत पाठ को प्राप्त करने की इस अनुमानित प्रक्रिया को पाठ-सुधार कहते

हैं। अतः पाठ-सुधार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम प्रतियों के साक्ष्य की अवहेलना करके कवि के पाठ को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। पाठ-सुधार की उपर्युक्त परिभाषा का यह अर्थ नहीं है कि पाठालोचक मनमाने ढंग से किसी नवीन पाठ की कल्पना करता है। यथार्थ में पाठ-सुधार द्वारा अनुमानित पाठ विषयानुसंगति और लेखानुसंगति से सिद्ध होना चाहिए। इसीलिए कहा गया है कि पाठ-सुधार साधारण अर्थ से पाठ-सुधार नहीं है, वरन् यह वह कल्पित केन्द्र-बिन्दु है जिसकी ओर समस्त प्राप्त साक्ष्य संकेत करते हैं। डॉ० कत्रे ने इसकी परिभाषा एक दूसरे ही ढंग से दी है। उनके अनुसार प्रतिलिपि-परम्परा में प्राप्त समस्त अविश्वसनीय तत्वों के निराकरण का प्रयास ही पाठ-सुधार है।

पाठ-सुधार में क्योंकि प्राप्त पाठ की अवहेलना की जाती है, अतः यह आवश्यक है कि वह कुछ साक्ष्यों का सहारा ले जिसके आधार पर प्रस्तुत पाठ को कविकृत की गरिमा प्रदान की जा सके। ये साक्ष्य अन्तर्साक्ष्य अथवा विषयानुसंगति तथा बहिर्साक्ष्य या लेखानुसंगति है। पाठालोचक का यह दायित्व है कि उसके पाठ-सुधार इन साक्ष्यों से प्रामाणित हों और उनका पूर्ण उल्लेख ग्रन्थ की भूमिका में किया जाए।

अंतर्साक्ष्य, अंतरंग संभावनाएँ अथवा विषयानुसंगति

पाठालोचक द्वारा संशोधित पाठ अन्तर्साक्ष्य द्वारा प्रामाणित होना चाहिए। अन्तर्साक्ष्य के अन्तर्गत वे समस्त साक्ष्य आते हैं जो कि ग्रंथकार, रचना और प्रयोग-शैली से सम्बन्धित हैं। ये साक्ष्य कवि की उपलब्ध रचनाओं के गंभीर अध्ययन द्वारा प्राप्त होते हैं। इसके अन्तर्गत पाठालोचक को प्रस्तावित पाठ-सुधार को निम्नलिखित कसौटी पर कसना होगा—

(क) प्रस्तावित पाठ सुधार प्रसंगोचित होना चाहिए। वह ऐसा न हो कि प्रसंग के धारा-प्रवाह में व्यवधान उपस्थित करे।

(ख) प्रस्तावित पाठ रचयिता के विचारों के अनुकूल होना चाहिए। कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्रस्तावित पाठ द्वारा रचयिता की मान्य विचार-पद्धति पर आघात पहुंचे। साम्प्रदायिक साहित्य के सम्बन्ध में इस बात का और भी अधिक ध्यान रखना चाहिए।

(ग) प्रस्तावित पाठ रचयिता के व्यक्तिगत प्रयोग के अनुकूल होना चाहिए। प्रत्येक रचयिता की अपनी विशिष्ट भाषा और शैली होती है। वह शब्दों का अपने विशिष्ट ढंग से प्रयोग करता है। पाठालोचक को रचयिता के इन प्रयोग-वैशिष्ठ्य से परिचित होना और यह देखना होगा कि वह जो सुधार प्रस्तुत कर रहा है, क्या उसे रचयिता स्वयं लिख सकता है। यह सुधार ऐसा होना चाहिए जिसके रचयिता द्वारा लिखे जाने की संभावना हो।

(घ) प्रस्तावित पाठ व्याकरण सम्मत होना चाहिए। व्याकरण का यहाँ पर अर्थ पाठालोचक के काल में प्रचलित व्याकरण से नहीं है। रचयिता के काल में प्रचलित व्याकरण-रूप ही इसकी कसौटी है। अक्सर क्या हुआ है कि अप्रचलित प्रयोगों के अज्ञान के कारण संपादक रचयिता के शुद्ध प्रयोगों को भी अशुद्ध समझकर सुधार कर लेते हैं। इससे पाठालोचक को सावधान रहना चाहिए और किसी पाठ को अस्वीकार करते समय, और नये पाठ को प्रस्तावित करते समय यह देख लेना चाहिए कि अस्वीकृत पाठ कहीं व्याकरण-परिवर्तन के कारण तो भ्रष्ट नहीं लग रहा है, और प्रस्तावित पाठ रचयिता के व्याकरण के अनुकूल है या नहीं।

(ङ) प्रस्तावित पाठ रचयिता की छन्द-योजना के अनुकूल होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। यह सम्भव है कि रचयिता द्वारा प्रयुक्त छन्द-योजना वर्तमान प्रचलित छन्द-योजना के अनुकूल न हो। ऐसी स्थिति में उन्हें प्रचलित छन्द-योजना के अनुकूल नहीं बनाना चाहिए तथा प्रस्तावित पाठ कवि की अपनी छन्द-योजना के ही अनुसार होना चाहिये। कभी-कभी रचयिता की छन्द-योजना न समझने के कारण गलतियाँ हो जाती हैं। पद्मावत में अर्द्धाली-दोहों की संख्या के सम्बन्ध में काफी ढिलाई है, और इसे न समझ सकने के कारण संपादकों ने छन्दों में संशोधन कर दिये हैं।

सतर्कताएँ

अन्तरंग संभावनाओं पर विचार करते हुए उपर्युक्त के अतिरिक्त पाठालोचक को दो बातों से सतर्क रहना चाहिए। प्रथम सतर्कता तो इस बात की रखनी चाहिए कि कहीं गलती से अधिकांश प्रतियों में प्राप्त कठिन पाठ न समझ सकने के कारण निरर्थक समझ कर अस्वीकार तो नहीं किया जा रहा है। ऐसी ही गलती पद्मावत के संपादन में शुक्ल जी से (छरहरा-चिरहँटा वाले अंश में) हो गई थी। दूसरी सतर्कता इस बात की रखनी चाहिए कि प्राप्त प्रमाणों एवं साक्ष्यों की अवहेलना कर पाठ को उत्कृष्ट करने का प्रयत्न तो नहीं हो रहा है।

उपर्युक्त अन्तरंग सम्भावनाओं पर विचार कर जो पाठ खरे नहीं उतरते हैं, उन्हें अस्वीकार कर दिया जाता है, और उनके स्थान पर उनसे प्रामाणित कोई पाठ प्रस्तावित किया जाता है।

बहिर्साक्ष्य, बाह्य या बहिरंग संभावनाएँ, अथवा लेखानुसंगति

बहिरंग संभावनाएँ प्रतिलिपि एवं सामग्री जनित होती है और इनका सम्बन्ध रचयिता से नहीं होता है। जिस प्रकार विषयानुसंगति का सम्बन्ध रचयिता मात्र से होता है, प्रतिलिपिकार या प्रतिलिपि और लेखन-सामग्री मुक्त होता है, उसी प्रकार लेखनुसंगति का सम्बन्ध प्रतिलिपिकार, प्रतिलिपि एवं सामग्री से होता है। इसके अन्तर्गत विशेषतः लिपि-जनित भूलें एवं परिवर्तन आते हैं। समय के साथ एक ही लिपि के लिखने में परिवर्तन होता रहा, इसके अतिरिक्त एक ही लिपि में कई अक्षरों

में भ्रम की संभावनाएँ भी रहती हैं, फिर हिन्दी के ग्रन्थों में तो फारसी लिपि से नागरी लिपि तथा नागरी लिपि से फारसी लिपि में लिखे जाने के कारण भी बहुत से भ्रम हुए हैं। किसी भी पाठ-सुधार को प्रस्तावित करते समय यह देखना होगा कि यह पाठ लिपि-जनित भ्रमों द्वारा क्या प्रतियों में प्राप्त पाठ के रूप में भ्रष्ट हो सकता था। यदि ऐसा सम्भव है तो पाठ-सुधार लेखानुसंगति से सिद्ध होगा। इसी प्रकार सामग्री के त्रुटित होने के कारण, पत्रों के उलट-पुलट जाने के कारण, कीड़ों द्वारा सामग्री के खा जाये जाने के कारण यदि प्राप्य पाठ का समाधान किया जा सकता है, और उसे प्रस्तावित संशोधित पाठ से सिद्ध किया जा सकता है, तो यह पाठ-सुधार बहिरंग संभावनाओं से सिद्ध होगा।

पाठ-सुधार के लिए अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य, दोनों का होना आवश्यक है। प्रतियों के पाठ-निर्धारण में भी इन साक्ष्यों का प्रयोग किया जाता है, पर इसमें तथा पाठ-सुधार में इनके होने वाले प्रयोगों में थोड़ा अन्तर होता है। पाठ-निर्धारण में हम इस पाठान्तर को स्वीकार करते हैं जो कि इन साक्ष्यों के आधार पर अधिकाधिक सिद्ध होता है। पाठ-सुधार में इन दोनों का पूर्ण साक्ष्य आवश्यक है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि दोनों साक्ष्य द्वारा पाठ-सुधार सम्भव नहीं होता है। ऐसी स्थिति में किए गए सुधार संदिग्ध और काम चलाऊ ही हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य में विरोध है तो अंतर्साक्ष्य द्वारा सिद्ध पाठ ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि उसके रचयिता कृत होने की संभावना तो है: जबकि बहिर्साक्ष्य से सिद्ध और अंतर्साक्ष्य से असिद्ध पाठ-सुधार, क्योंकि रचयिता कृत हो ही नहीं सकता है, इसलिए व्यर्थ होता है। इसीलिए पाठालोचक का पुरालिपि शास्त्री मात्र होना ही यथेष्ट नहीं है।

अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर पाठ संशोधन के सुन्दर उदाहरण कबीर ग्रन्थावली में उपलब्ध हैं। कबीर की पाठ-परम्परा में प्राप्त पाठ : **सुर तैंतींसो कौतिग आए, मुनिवर सहस अठासी है।** इसमें कौतिग शब्द का संशोधन किया गया है क्योंकि परम्परागत प्रसिद्धि को देखते हुए देवताओं की संख्या ३३ करोड़ है, न कि ३३। कवि जबकि मुनियों की संख्या ८८ हजार देता है तो देवताओं की संख्या लोक-प्रसिद्धि के विपरीत ३३ ही क्यों कहेगा। अतः कौतिग के स्थान पर कोटिक की कल्पना की गई हैं। यह सुझाव बहिर्साक्ष्य द्वारा भी सिद्ध हो जाता है। कबीर का पाठ फारसी लिपि में लिप्यान्तरित हुआ था। प्राचीन फारसी लिपि में ते के ऊपर छोटी सी पड़ी रेखा देकर टे का काम चलाया जाता था। फलतः ट का त पढ़ा जाना असंभव नहीं है। काफ़ और गाफ़ की समानता से भी दोनों में परस्पर भ्रम होना कठिन नहीं है। इसलिए कौटिक से कौतिग होना बहिर्साक्ष्य से प्रामाणित है। इसी प्रकार का एक अन्य संशोधन मेरी का मोहड़ी है। पक्ति इस प्रकार है :

आयो चोर तुरंगहि लै गयो, मेरी राखत मुगुध फिरै। इस पंक्ति में मेरी के स्थान पर मोहड़ी पाठ प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि प्रतियों में

प्राप्त मेरी, मोरी आदि विषयानुसंगति की दृष्टि से अनुपयुक्त है। प्रसंग घोड़े के चोरी जाने के बाद, किसी व्यर्थ की वस्तु के रखने का है। प्राप्त पाठ के स्थान पर मोहड़ी इसलिए प्रस्तावित किया गया है, क्योंकि मोहड़ी घोड़े के मुँह में लगाई जाती है, और घोड़े के चोरी जाने के बाद मोहड़ी की रक्षा करना मूर्खता है। अतः प्रसंगार्थ दृष्टि से मोहड़ी ही शुद्ध प्रतीत होता है। लेखानुसंगति की दृष्टि से फ़ारसी लिपि में मोहड़ी मीम, वाव, हे, ड़े के संयोग से लिखा जाता है। यदि द्रुतिगति में हे का शोशा भूल से छूट जाए तो—जो कि असंभव नहीं है तो मोहड़ी को सरलता से मोड़ी या मोरी पढ़ा जा सकता है। मोहड़ी और उसके ये विकृत रूप पूर्वी प्रयोग हैं जिनका किसी पश्चिमी लिपिकार द्वारा मेरी किया जाना भी असभव नहीं है। इन तर्कों एवं विषयानुसंगति तथा लेखानुसंगति के साक्ष्य के आधार पर यह संशोधन किया गया है।

कभी-कभी संपाद्य सामग्री की कुछ विकृतियाँ ऐसी होती हैं जो कि अनुमानित पाठ-संशोधन की पहुंच के भी बाहर हुआ करती है। ये विकृतियाँ कवि के स्वहस्त लेख के कुछ बाद की प्रतियों की होती हैं जो कि पुनर्निर्मित आदर्श से भी बहुत ऊपर की होती हैं। ऐसी विकृतियों को लेखानुसंगति के आधार पर दूर कर मूल पाठ प्राप्त करना कठिन है। ऐसी स्थिति में विषयानुसंगति के आधार पर अनुमानित संशोधन अटकल मात्र होता है, यद्यपि यह सम्भव है कि भविष्य में उपलब्ध होने वाली कुछ नवीन प्रतियां इस अटकल को सिद्ध करने में समर्थ हों। इस कार्य की कठिनाई को ही ध्यान में रखकर सुक्थंकर ने पाठ-संशोधन का तिरस्कार किया है। उनका विचार है कि स्वल्प संशोधनों को छोड़कर शेष अधिकतर पाठ परिवर्तन ही होते हैं। उनके अनुसार अधिकतर अशुद्ध स्थलों पर भी कोई न कोई अर्थ देने वाली प्रति मिल जाती हैं, और यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि यह पाठ कविकृत या सतोषप्रद हो, फिर भी इसे ही स्वीकार करना चाहिए। वे पूर्णरूपेण अनुकूल परिस्थितियों में ही संशोधन के पक्ष में है, अन्यथा संशोधन की जगह व्याख्या को महत्त्व देते हैं। यदि किसी स्थान पर वे संशोधन के पक्ष में भी हैं तो उनके मतानुसार संशोधन ऐसा होना चाहिए जो कि उपलब्ध पाठ-भेदों में एकीकरण लाने वाला हो। यह संशोधन प्रतियों के साक्ष्य के विरोध में नहीं होना चाहिए और ऐसा होना चाहिए जिसकी ओर अन्य पाठ संकेत करें। संशोधन द्वारा अर्थ को उत्कृष्ट करने का कभी भी प्रयत्न नहीं होना चाहिए। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर 'आदि पर्व' के सात-आठ सहस्र श्लोकों में केवल ३६ स्थलों पर पाठ-सुधार किया गया है। यह पाठ-सुधार भी शब्दों का ही है। पंक्तियों का नहीं। उपर्युक्त सिद्धांतों की सत्यता महाभारत की एक प्राचीन नेपाली प्रति के मिलने से सिद्ध हो गई है। इस प्रति में प्राप्त १८ पाठ संशोधित पाठ के अनुकूल हैं।

महाभारत जैसे प्राचीन ग्रंथ के पाठालोचन की समस्या अत्यंत गंभीर और दुरूह है, क्योंकि उसके रचनाकाल की परिस्थितियों, उस युग की भाषा तथा उसके

रचयिताओं के व्यक्तिगत प्रयोगादि से हम लोग लगभग पूर्णतया अपरिचित है। किन्तु हिन्दी-कवियों के विषय में परिस्थितियाँ अधिक स्पष्ट और आशाजनक हैं। हम लगभग सभी महत्त्वपूर्ण लेखकों की शैली, भाषा, प्रयोग-वैचित्र्य एवं उस काल की प्रवृत्तियों से परिचित हैं। असंदिग्ध रूप से सिद्ध शुद्ध पाठ द्वारा भी उसके विषय में यथेष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस अध्ययन से यह संभावना भी रहती है कि हमें समान संदर्भ ही मिल जाएँ जिनके आधार पर, तथा पाठ सुधार के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर हम पाठ-संशोधन कर सकें। समान संदर्भों के अभाव में हमें रचयिता-सम्बन्धी अपने विचारों के अनुसार पाठालोचक पाठ-निर्धारण में दो पाठांतरों में से एक चुनता है। इस पाठ-निर्धारण में संभावना है कि स्वीकृत पाठ कवि-कृत न हो; शायद उसे दूसरा ही पाठ अभीष्ट हो। आज हम दूसरे पाठ को स्वीकार नहीं करते हैं इसका कारण शायद कवि के यथार्थ भाव को न समझ सकना अथवा कालान्तर जनित प्रयोग-वैचित्र्य के द्वारा उसके यथार्थ अर्थ को ग्रहण करने में हमारी असमर्थता हो। पाठांतर के विषय में जब ऐसी स्थिति है तब पाठ-सुधार के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना तो और भी कठिन है। इसीलिए पाठ-सुधार करने में अत्यंत सतर्कता की आवश्यकता है।

यहां पर सुधार सम्बन्धी एक प्रवृत्ति की ओर ध्यान रखना आवश्यक है। यह प्रवृत्ति साधारणीकरण की है। अक्सर सम्पादक रचयिता की रचना को चलता रूप दे देते हैं। वे उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं को महत्त्व न देकर उसकी भाषा-शैली एवं प्रयोगों में एकरूपता लाने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी किसी विशिष्ट रचयिता की भाषा-शैली को आदर्श मानकर अन्य साधारण रचयिताओं पर उस शैली-भाषा को लादने का प्रयत्न किया जाता है। पाठालोचन को पाठ-सुधार की इस प्रवृत्ति से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रत्येक रचयिता का अपना व्यक्तित्व होता है जो कि उसकी रचनाओं में मुखरित होता है। पाठालोचक का कर्त्तव्य है कि उसकी रक्षा करे।

भ्रष्ठ पाठ के संशोधन की समस्या को लेकर पाठालोचकों के दो वर्ग हैं। यथार्थ में वे वर्ग न होकर सुधार की दृष्टि से दो विचार सरणियाँ हैं जो कि पाठ-सुधार की सीमा निर्धारित करती हैं। इनमें एक रूढ़िवादी या अनुदार वर्ग है तो दूसरा आधुनिक या उदार वर्ग है। इन दोनों के अन्तर को यदि एक वाक्य में व्यक्त करना चाहें तो रूढ़िवादी पाठालोचक सुधार को जहाँ स्वीकार नहीं करता है, वहीं आधुनिक पाठालोचक न केवल सुधार को स्वीकार ही करता है, बल्कि बड़ी मात्रा में उसका प्रयोग भी करता है। दोनों वर्गों के इस बल अन्तर के पीछे यथार्थ में पाठालोचन के मूलोद्देश्य की समस्या है। क्या पाठालोचन का उद्देश्य प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर प्राचीनतम पाठ देना मात्र है? अथवा इसका उद्देश्य रचयिता के मूल को प्रस्तुत करना? रूढ़िवादी पाठालोचक उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर प्राचीनतम पाठ प्रस्तुत करना ही अपना लक्ष्य मानता है। यह पाठ रचयिता का है या नहीं, इसकी उसे चिंता

नहीं। आधुनिक वर्ग के पाठालोचकों का कहना है कि पाठालोचन पुरातत्ववेत्ता मात्र नहीं है। उसका कार्य तथा पाठालोचन का उद्देश्य वह पाठ प्रस्तुत करना है जो कि ग्रन्थकार का है। यदि प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर इस पाठ तक पहुंच सकते हैं तो ठीक है। यदि साक्ष्यों द्वारा प्राप्त पाठ किन्हीं कारणों से ग्रन्थकार कृत नहीं हो सकता है तो पाठालोचक का कर्त्तव्य है कि साक्ष्यों से आगे बढ़कर ग्रन्थकार के पाठ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करे और इसके लिये आवश्यक पाठ-सुधारोंसे न हिचकिचाए। पाठालोचक के इन दो वर्गों के इस मूल अन्तर के उपरांत यह इनकी विशेषताओं और क्रिया-पद्धतियों को जानना लाभप्रद होगा।

रूढ़िवादी वर्ग परम्परा से प्राप्त पाठ पर विशेष बल देता है। उसका कहना है, और यह बड़े अंश में ठीक भी है, कि यदि परम्परागत पाठ की अवहेलना की जायेगी तो संभव है कि हम इस पाठ में इतना अधिक सुधार कर दें कि वह पाठ ही बिल्कुल बदल जाए। यह वर्ग निर्धारित पाठ में कम से कम परिवर्तन करना चाहता है। इस वर्ग के अनुसार पाठ या तो स्वीकृत होगा या अस्वीकृत। संदिग्ध रूप से अस्वीकृत पाठ का इसमें कोई स्थान न होगा। इसके अतिरिक्त वे स्थल जोकि कवि-कृत हो ही नहीं सकते और जिन स्थलों पर सुधारवादी वर्ग संशोधन करना चाहेगा। ऐसे स्थलों के लिए इस वर्ग का कहना है कि यह कहीं अधिक उचित है कि परम्परा से प्राप्त पाठ की—वह चाहे कितना भी अशुद्ध क्यों न प्रतीत हो—स्वीकार करना चाहिए। यह पाठ कम से कम मूल पाठ का यदि प्रतिनिधि नहीं तो अवशेष तो अवश्य ही है। सुधारवादी वर्ग का यह कथन है कि जो पाठ कविकृत हो ही नहीं सकता। उसको प्रस्तुत करने के स्थान पर ऐसा कामचलाऊ पाठ प्रस्तुत करना कहीं अच्छा है जोकि कवि-कृत हो सकता है।

कोई भी पाठालोचक अशुद्ध एवं भ्रष्ट पाठ वाले स्थलों पर उपर्युक्त में से एक विधि अपना सकता है। रूढ़िवादी विधि के अनुसार प्रतियों के साक्ष्य के अनुसार वह प्राप्त पाठ मूल में देगा और पाद-टिप्पणी में अपना मत संशोधन आदि देगा। ऐसा पाठ साक्ष्यानुसार होते हुए भी अपाठ्य होगा, और ऐसी स्थिति में पाठालोचक का कार्य पाठ पुरातत्ववेत्ता मात्र का होगा, पाठालोचक का नहीं। सुधारवादी पाठा-लोचक ऐसे स्थल पर कामचलाऊ रूप में एक सुपाठ्य-पाठ देगा जो कि प्रतियों के बहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य पर आधारित होगा। साथ ही वह नीचे पाद-टिप्पणियों में वह समस्त सामग्री देगा जिसके आधार पर उसने संशोधित पाठ दिया है। ऐसा पाठ इस लक्ष्य को ध्यान में रख कर दिया जायेगा कि पाठालोचक का कार्य कवि का मूल पाठ प्रस्तुत करना है। वह प्रत्येक सुधार को स्वतंत्र रूप से समस्त साक्ष्यों के आधार पर स्वीकार करेगा। उदाहरणार्थ महाभारत के संपादन में सुखथंकर ने S K. प्रति 'गंगा श्रीर इवा रूपणी' पाठ अन्य समस्त प्रतियों की उपेक्षा कर स्वीकार किया है। किंतु, एक अन्य स्थल पर उन्होंने इसी प्रति का 'शयनात् पाठ अस्वीकार कर

N का 'सलिलात' पाठ स्वीकार किया है। विंटरनित्ज आदि विद्वानों की गई आपत्ति का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि ऐसा अन्तर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य के भिन्न-भिन्न होने के कारण है। उपर्युक्त उदाहरण सुधार का न होते हुए भी पाठ-सुधार में अन्त-र्निहित सिद्धांतों को व्यक्त करने वाला है।

रूढ़िवादी तथा सुधारवादी पाठालोचन, दोनों में भी एक बड़े दोष का भय है। पाठालोचक को ऐसे स्थल मिल सकते हैं जो कि संदिग्ध है। रूढ़िवादी ऐसे स्थलों पर परम्परागत पाठ को स्वीकार कर लेगा और सुधारवादी तत्क्षण सुधार कर देगा किंतु सम्भव है कि यह संदिग्धता पाठालोचक के अल्पज्ञान या प्राप्त सामग्री के अधूरे अध्ययन या प्राचीन प्रयोग के कारण हो। ऐसी स्थिति में संशोधन पाठ को भ्रष्ट करना ही होगा। अतएव यथार्थ पाठालोचन में यह आवश्यक है कि दोनों ही अतियों से बचा जाए।

रूढ़िवादी पाठ यथार्थ में न तो प्राचीनतम पाठ होता है,और न ही वैज्ञानिक। यह पाठ मध्यम स्थिति का होता है। रूढ़िवादी पाठालोचक इस पाठ को दो प्रकार से प्राप्त करता है। प्रथम अन्त: साक्ष्यों की अवहेलना करके, और द्वितीय साक्ष्यों का अवमूल्यांकन करके। दोनों ही विधियाँ सिद्धांतत गलत है और इनके गलत प्रयोग की संभावनाएँ तो और भी अधिक हैं। दोनों ही विधियों द्वारा पाठ शुद्धि की हानि होगी, और यह हानि पाठालोचक की रूढ़िवादिता के अनुपात में होगी।

रूढ़िवादी तथा सामान्य सम्पादकों का यह विचार होता है कि संदिग्ध स्थलों पर परम्परागत पाठ ही छोड़ देना अधिक समाचीन होता है। यह नियम सरल किंतु व्यावहारिक नहीं है। किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन पाठानुसंधान रूप में सामान्यतः नहीं होता है। पाठक तो उसका रसास्वादन करना चाहता है। अतएव यदि पाठालो-चक अपाठ्य पाठ प्रस्तुत करता है तो उसका अध्ययन कौन करेगा ! यदि यह मान भी लिया जाए कि पाठक उसका अध्ययन करता है, तो दो स्थितियाँ हो सकती हैं। प्रथम में प्रस्तुत पाठ से कोई भी अर्थ प्रसंगानुसार निकालना कठिन है, और उसका होना न होना बराबर है। द्वितीय में पाठक खींच तानकर उस पाठ का प्रसंगानुकूल अर्थ निकाल तो लेता है, किंतु इसका उसे बड़ा मूल्य देना पड़ता है। यह मूल्य यह है कि पाठक के मस्तिष्क में उस शब्द के अर्थ के मूल्य पर गहरा आघात पड़ेगा तथा उस के प्रति उसके मन में अनिश्चयात्मकता आ जायेगी। मृत भाषा के ग्रन्थों के सम्बन्ध में यह बात और भी अधिक लागू है।

रूढ़िवादी वर्ग की एक विशेष कमजोरी यह है कि वे सुधार की अपेक्षाव्याख्या को महत्त्व देते हैं। संशोधन करने के स्थान पर वे जबरदस्ती उस पाठ की सगति बैठाना चाहते हैं। इस प्रकार वे अपने तथा दूसरे पर जबरन ऐसा पाठ लादने का प्रयत्न करते हैं जो कि वहाँ नहीं है, और दूसरी ओर यदि उपर्युक्त प्रकार से वे किसी पाठ को लाद नहीं पाते हैं तो उसे रचयिता का असाधारण प्रयोग कह कर छोड़ देते

हैं। यह सत्य है कि रचयिताओं के असाधारण प्रयोग होते हैं, पर प्रत्येक भ्रष्ट पाठ को असाधारण प्रयोग मानना भी ठीक नहीं है। वेदों के संपादन में खींचातानी वाले पाठ और अर्थ अनेक उपलब्ध हो सकते हैं।

रूढ़िवादियों के विपरीत आधुनिक सुधारवादी वर्ग की कमी यह है कि व्याख्या की पूर्ण अवहेलना करके सुधार करना ही अपना काम समझते हैं। यह भी अतिवादी दृष्टिकोण है। यथार्थ में सुधार को सर्वदा अन्तर्साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य के अनुकूल होना चाहिए। ऐसा न होना चाहिए कि तनिक से साक्ष्य में आधार पर ही सुधार कर दिया जाय। सुधार में कल्पना को स्थान नहीं है। कल्पना को अनियंत्रित छोड़ने पर भय है कि कवि के पाठ के स्थान पर पाठालोचक का ही पाठ न हो जाए।

रूढ़िवादी और सुधारवादी वर्गों में सर्वाधिक मतभेद कविकृत अशुद्धियों के सम्बन्ध में है। कविकृत अशुद्धियों के अन्तर्गत मूलादर्श के प्राप्त न होने पर प्रतिलिपि की अशुद्धियाँ भी आ जाती हैं। ऐसी स्थिति में रूढ़िवादी जहाँ इन अशुद्धियों को यथारूप रखने के पक्ष में हैं, वहाँ पोस्टगेट तथा डॉ० गुप्त कम से कम प्रतिलिपि की अशुद्धियों को शुद्ध करने के पक्ष में अवश्य हैं। जायसी के ग्रन्थावली के संपादन में उन्होंने ऐसा ही किया है। प्रतिलिपि के अतिरिक्त कवि-संभव भूलों के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों विद्वानों का मत है कि उन्हें वैसा ही रहने देना चाहिए।

उपर्युक्त दोनों वर्ग अतिवादी है। कुछ लोग दोनों वर्गों में समझौता कर मध्यम मार्ग की बात करते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि पाठालोचक का लक्ष्य सिद्धांतों में समन्वय या समझौता करना नहीं है। उसका लक्ष्य पाठ के मूल रूप का पुनरुद्धार करना है। उसे साक्ष्यों का सहारा लेते हुए मूल पाठ प्राप्त करने के लिए संशोधन से हिचकिचाना नहीं चाहिए, किन्तु साथ ही साथ सर्वत्र पाठ-संशोधन के लिए कटिबद्ध भी नहीं रहना चाहिए।

हिन्दी के पाठालोचकों ने यही तर्क सम्मत मार्ग अपनाया है। वे संशोधन के भयभीत नहीं है किन्तु उन्होंने जबरजस्ती संशोधन किए भी नहीं हैं।

सशोधन के सिद्धांतों के उपयोग का एक उदाहरण डा० गुप्त द्वारा मधुमालती से दिया जा रहा है—

मधुमालती का प्रथम छन्द

प्रेम प्रीति निधि के दाता। दुइ × जग[१] एकोंकारि ×[२] विधाता।
बुधि प्रगास नाहीं तुअ ताईं ×[१]। तुम अस्तुति जे करौं ×[२] गोसाईं ×[३]
तीनि भुअन चहुँ ×[१] जुग तैं ×[२] राजा × (?) आदि अंत जग तोहि पैं छाजा।
पंडित मुनिजन ब्रह्म बिचारी। तुम अस्तुति जग काहु ×[१] न सारी।
एक जीभि ×[१] मैं ×[२] कैसे सारौं ×[३]। सहस जीभि ×[४] चहुं ×[५] जुग नहिं ×[६] पारौं ×[७]।

तीनि भुअन घट-घट मंह ×[१] अनबन ×[२] रूप बेलास।
एक जीभि ×[१] कहु ताहु कै ×[२] कैसे अस्तुति करै हवास।

पाठांतर—यह छंद केवल ए० में सुरक्षित है, शेष समस्त प्रतियाँ यहाँ खंडित हैं। अतः ऊपर इसका पाठ कैथी की ह्रस्व-दीर्घ विषयक सामान्य त्रुटियों का परिहार करके ए० के अनुसार दिया जा रहा है, और नीचे ए० में प्राप्त पाठ के साथ प्रस्तावित संशोधनों का कारण निर्देश किया जा रहा है।

पंक्ति—१ए. जुग : 'जुग' असंगत है, क्योंकि जुग चार हैं : दे० इसी छंद की अर्द्धालियाँ ३, ५।

२ ए. एककारी : एकंकारी निरर्थक है; आगे २-४ में एकंकार आया है जो 'एकोंकार' की फारसी लिपि जनित विकृति है। वही शब्द यहाँ भी प्रसंगतः सिद्ध है, केवल रूप उसका इकारांत हो गया है।

(२) १ ए. नाइ। २ ए. करौ। ३ए. गोसाइ। इन १, २, ३ में अनुनासिक का बिंदु छूट गया है, जो कैथी के लेखों में प्रायः होता है।

(३) १ए. चहु। २ ए. तै। इन १,२ में अनुनासिक का बिंदु छूट गया है। ३ए. दाता : 'दाता' का तुक परवर्ती चरण के 'छाजा' से नहीं मिलता है, अतः उसके स्थान पर 'राजा' का सुझाव दिया जा रहा है।

(४) १ए. काहु : अनुनासिक का बिंदु छूट गया है। रा. में यह शब्द जहाँ भी कर्ता के रूप में आया है, अनुनासिक युक्त है।

(५) १ए. जीभ। २ए. मै। ३ ए. सारौ। ४ ए. जीभ। ५ ए. चहु। ६ए. न। ७ए. पारौ। १, ४ में फारसी लिपि के कारण अब भी जीभि का जीभ पाठ से छन्द में मात्रा की कमी हो जाती है; फारसी लिपि में 'नहिं' और 'न' प्रायः एक ही प्रकार लिखे जाते हैं, इसलिये यह भूल हुई है। ७ ए. पारौ : अनुस्वार का बिंदु छूट गया है।

(६) १ ए. नः 'न' प्रसंग सिद्ध नहीं है। यह फारसी लिपि में लिखे हुए 'महं' का पाठ प्रमाद से हुआ प्रतीत होता है। २ए. अनौन : अनौन अर्थहीन है : यह संभवतः नागरी के अनबन=अनवन (क्योंकि 'ब' भी 'व' के समान लिखा जाता था) के फारसी लिपि में लिखे जाने पर पाठ प्रसाद के कारण हुआ है। जायसी के पद्मावत में भी यह भूल हुई है, और अनेक स्थानों पर हुई है (दे० प्रस्तुत लेखक) (डा० गुप्त) द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका, पृ० २४-२९)

(७) १ए. जीभ : फारसी लिपि के कारण अवधी 'जीभि' का जीभ हो गया है। २ए. के : के 'कै' का विकृत पाठ लगता है; ताहि ईश्वर के लिए आया है, प्रच्छन्न कर्ता 'मनुष्य' के लिए नहीं, अतः 'अस्तुति' स्त्री० कर्म के अनुसार 'के' के स्थान पर 'कै' स्त्री० प्रत्यय होना चाहिए जो इसी प्रकार ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र आता है।

: ७ :

उच्चतर आलोचना (Higher Criticism)

पाठालोचन का उपसंहार उच्चतर आलोचना में होता है। यह पाठालोचन का मूल अंग नहीं है। मूल पाठालोचन के अन्तर्गत प्रतियों का मिलान, पाठ-निर्धारण और पाठ-सुधार आते हैं। किन्तु जिस प्रकार उपक्रम-रूप में सामग्री-संकलन और सामग्री-परीक्षा को पाठालोचन के अन्तर्गत ले लिया गया है, उसी प्रकार उच्चतर आलोचना को भी पाठालोचन के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाता है। पाठानुसंधान के उपरान्त इसका प्रारम्भ होता है।

Lower Criticism

उच्चतर आलोचना का प्रयोग निम्नतर आलोचना के सापेक्ष्य में होता है। निम्नतर आलोचना का कार्य रचयिता के मूल पाठ को यथा साध्य प्राप्त करना है। इस पाठ की व्याख्या, इसके अर्थ-सौंदर्य का स्पष्टीकरण, एवं इसका साहित्यिक मूल्यांकन आलोचना के क्षेत्र में हैं। इस स्थिति के उपरान्त ग्रन्थ तथा उसकी प्रतिलिपियों के विस्तार, उद्देश्य, उसके विभिन्न खंडों का अध्ययन, उनका लेखन, एवं उन परिस्थितियों का अध्ययन जिनके कारण उनका निर्माण हुआ है; यह पता लगाना कि रचना एक रचयिता की कृति है या अनेक की, तथा यदि अनेक की रचना है तो प्रत्येक रचयिता के अंशों का निर्धारण; ग्रन्थ का उपलब्ध रूप कितना पुराना है, उसमें रचयिता के पूर्व के किन-किन स्रोतों का उपयोग किया गया है, इन स्रोतों की तिथि क्या है, आदि समस्त बातें उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत आती है। पाठानुसंधान से पृथक करने के लिए ही इसे उच्चतर आलोचना की संज्ञा दी गई है। कुछ विद्वानों का विचार है कि उच्चतर आलोचना का कार्य उस ग्रन्थ का तत्कालीन इतिहास के साक्ष्य-रूप में मूल्यांकन करना भी है। इसके अन्तर्गत यह निर्णय करना होगा कि तत्कालान परिस्थितियों का चित्रण करने वाले अंश सचमुच उस समय की परिस्थितियों का सच्चा चित्रण करते हैं या नहीं, अथवा उनका वर्णन एकांगी और एक पक्षीय तो नहीं है। साथ ही साथ यह भी निर्णय करना होता है कि ग्रन्थ में वर्णित घटनाएँ कहाँ तक ऐतिहासिक स्रोतों से ली गई हैं, तथा उसमें प्राप्त कथनों में किस-किस और कितने अंश का ऐतिहासिक मूल्य है। जी० बी० ग्रे० तथा ए० एस० पीक का विचार है कि यद्यपि इन सभी को अकसर उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत मान लिया जाता है, किन्तु ये यथार्थ में ऐतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत आते हैं।

उनके विचारों के अनुसार उच्चतर आलोचना का क्षेत्र लेखक-निर्णय, लेखन-तिथि एवं उसके साहित्यिक विवेचन तक ही सीमित होना चाहिए।

कत्रे ने उच्चतर आलोचना को अति संक्षेप में ग्रन्थ-निर्माण में लेखक द्वारा प्रयुक्त स्रोतों का विश्लेषण कहा है। यथार्थ में उच्चतर आलोचना का क्षेत्र इससे विस्तृत है। इसके अन्तर्गत लेखक-निर्धारण, ग्रन्थ की मूल लिपि का निर्धारण, ग्रन्थ का रचना काल और उपलब्ध पाठ का काल-निर्धारण, रचयिता द्वारा प्रयुक्त स्रोतों का निर्धारण तथा लेखक की समस्त रचनाओं में उस रचना का स्थान निर्धारण आता है। उदाहरणार्थ यदि किसी कवि की तिथि-विहीन रचना प्राप्त होती है, तो उसकी तिथि का निर्धारण उस लेखक की समस्त रचनाओं के अध्ययन, उसकी विचार-श्रृंखला में वह रचना कहाँ एवं किस स्थान पर बैठती है, उसकी शैली एवं भाषा के आधार पर उसे कहाँ रखा जा सकता है, उस रचना में उल्लिखित व्यक्ति, घटनाएँ आदि रचयिता कृत सम्भव हैं या नहीं आदि के आधार पर किया जाएगा। यह समस्त कार्य उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत आता है।

किसी भी ग्रन्थ के मूल पाठ और प्रक्षेपों का निर्धारण पाठानुसंधान का कार्य है, पर उन ग्रन्थों की प्रामाणिकता का निर्णय उच्चतर आलोचना के क्षेत्र में है। उदाहरणस्वरूप तुलसी के नाम से कुण्डलिया रामायण, छप्पय रामायण, गीता रामायण आदि लगभग २४ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों का संपादन जहाँ पाठानुसंधान का विषय है, वहाँ इनकी प्रामाणिकता—ये तुलसीकृत है या नहीं—उच्चतर आलोचना का विषय है। क्योंकि उच्चतर आलोचना का सम्बन्ध पाठानुसंधान से नहीं है इसलिए कुछ लोग इसे पाठालोचन के अन्तर्गत नहीं लेना चाहते हैं। किन्तु पाठालोचन के विस्तृत अर्थ के अन्तर्गत उच्चतर आलोचना को ग्रहण किया जाने लगा है क्योंकि पाठालोचन का उद्देश्य प्राप्त साक्ष्य के आधार पर प्राचीनतम पाठ प्रस्तुत करना मात्र नहीं है, वरन् उससे आगे बढ़ कर कवि के पाठ तक पहुंचना है। यथार्थ में जिस प्रकार सामग्री-संकलन और उसकी परीक्षा पाठालोचन का उपक्रम है उसी प्रकार उच्चतर आलोचना इसका उपसंहार है।

उच्चतर आलोचना विस्तृत रूप में स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप ले सकती है, किन्तु सामान्य रूप में संपादित ग्रन्थ की भूमिका में इसकी निम्नलिखित बातों का सप्रमाण उल्लेख होना चाहिए :—

(क) मूल रचना की भाषा, छन्द आदि की विशेषताएँ

इसके अन्तर्गत सम्पादक यह बतलाता है कि ग्रन्थ किस भाषा में लिखा गया है, उस भाषा के प्रयोग में कवि-जनित कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं। रचयिता ने उस भाषा के मानक व्याकरण, छंद आदि के प्रयोग में कितनी स्वतन्त्रता ली है, अथवा उसमें ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो कि परवर्ती साहित्य में लुप्त हो गये हैं। जायसी ग्रन्थावली के सम्पादन में डॉ० गुप्त ने प्रतिलिपिकारों एवं सम्पादकों के ऐसे अनेक भ्रमों की सूची दी है जो कि कवि की भाषा को न समझ सकने के कारण हुए हैं।

इसी प्रकार छन्द-सम्बन्धी उनकी स्वतन्त्रता अथवा सम्भवतः उस समय इन छन्दों के इन रूपों के प्रचलित होने को न समझ सकने के कारण प्रतिलिपिकारों ने अनेक स्थानों पर संशोधन कर पाठ को भ्रष्ट कर दिया है। रचयिता की इन विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना सम्पादक का कर्तव्य है।

(ख) आदि प्रति की लिपि

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य यद्यपि सामान्यतः नागरी लिपि में उपलब्ध है, किंतु उसका बड़ा अंश फारसी, गुरुमुखी, मैथिली तथा कैथी में भी प्राप्त है। संत-साहित्य के सम्बन्ध में यह बात अधिक सत्य है। सम्पादक का यह कार्य है कि वह आदि प्रति की लिपि के सम्बन्ध में अपना निर्णय दे। यह निर्णय प्रमाण-पुष्ट होना चाहिए। आदि प्रति की लिपि का ज्ञान प्रतिलिपियों के अनेक-भ्रमों को समझाने वाला होता है। उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत डॉ० गुप्त ने पद्मावत की आदि प्रति की लिपि नागरी सिद्ध की है।

(ग) रचना का नाम

कभी-कभी सम्पादक के सामने रचना के नाम की समस्या भी आ जाती है। यह परिस्थिति तब उठती है जबकि उस ग्रन्थ की प्रतियों में एकाधिक नाम मिलते हैं। ऐसी स्थिति में सम्पादक को रचना के नाम का निर्णय करना पड़ता है। डॉ० गुप्त को छिताई वार्ता के सम्बन्ध में भी ऐसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ा। इसकी दो प्रतियों में से कृ० के अनुसार रचना का नाम 'छिताई वार्ता', तथा श्री० के अनुसार 'छिताई चरित' है। श्री० की पुष्पिका में एक तीसरा नाम 'छिताई कथा' है। क्योंकि रचना के प्रारम्भिक ६१ छन्द दोनों प्रतियों में उपलब्ध नहीं हैं, इसी से यह समस्या खड़ी हुई है। दोनों प्रतियों के सापेक्षिक महत्त्व के आधार पर डॉ० गुप्त ने निर्णय किया कि ग्रन्थ का नाम छिताई वार्ता ग्रहण करना ही समीचीन है।

(घ) रचयिता का नाम

कभी-कभी रचयिता के नाम के सम्बन्ध में भी प्रश्न उठ खड़ा होता है। भंवर गीत के रचयिता का नाम नन्ददास है या जनमुकुन्द? छिताई वार्ता नारायण दास की रचना है या रतनरंग की? अथवा, यह दोनों की सम्मिलित रचना है या एक की रचना का आधार लेकर दूसरे ने उसमें कुछ संशोधन-परिवर्द्धन कर रचयिता ने अपना नाम भी सम्मिलित कर लिया है? इन प्रश्नों का उत्तर देना उच्चतर आलोचना का कार्य है। छिताई वार्ता के सम्बन्ध में डॉ० गुप्त ने अपना मत व्यक्त किया है कि यह नारायणदास की रचना है जिसमें कुछ समय के बाद रतनरंग ने कुछ संशोधन-परिवर्तन करके अपने को रचयिता रूप में सम्मिलित कर लिया है। डॉ० गुप्त का अनुमान है कि कुछ ऐसी ही स्थिति मधुमालती वार्ता (चतुर्भुज दास निगम कृत और माधव शर्मा द्वारा परिवर्द्धित एवं संशोधित) तथा भक्तमाल (सम्भवतः नारायणदास कृत और नाभादास द्वारा परिवर्द्धित एवं संशोधित) की भी है।

(ङ) विभिन्न रचयिताओं द्वारा रचित अंशों का पृथक्कीकरण—

छिताई वार्ता की सी स्थिति में सम्पादक को यह भी बताना होता है कि विभिन्न रचयिताओं का कितना-कितना अंश है। यह कार्य सदा सम्भव नहीं है। छिताई वार्ता के जिन छन्दों में कवियों की छाप आती है उनके सम्बन्ध में तो कठिनाई नहीं है, पर शेष छन्दों के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति में निर्णय करना कठिन है।

(च) ग्रन्थ का रचनाकाल—

अकसर ग्रन्थ के रचनाकाल का निर्णय भी सम्पादक को करना पड़ता है। इसकी आवश्यकता तब होती है जब कि ग्रन्थ में उसका रचनाकाल न दिया हो, अथवा दिया हुआ रचनाकाल अमान्य ठहरता हो। ऐसी स्थिति में अन्य साक्ष्यों के आधार पर ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित करना होता है। यह निर्णय ग्रन्थ में आए अंतःसाक्ष्य और ऐतिहासिक उल्लेखादि का मान्य इतिहास से मिलान कर किया जाता है। बीसलदेव रास की रचना का काल उसमें आए हुए ऐतिहासिक व्यक्तियों और स्थानों आदि के आधार पर डॉ० गुप्त ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक माना है। छिताई वार्ता का रचना की प्रतिलिपि की परम्परा का ध्यान रख कर डॉ० गुप्त ने सं० १५०० के लगभग माना है। उनके मतानुसार रतनरंग ने इसमें परिवर्द्धन-संशोधन सं० १५५० के आस-पास किया होगा।

(छ) स्रोतों का विश्लेषण

इसके अन्तर्गत उन स्रोतों का उल्लेख एवं रचयिता पर उनका ऋण आता है जिसके आधार पर उसने अपनी रचना की है। उदाहरणार्थ मानस की रचना में वाल्मीकि, आध्यात्म रामायण, आनन्द रघुनन्द नाटक आदि का कितना और कहाँ-कहाँ प्रभाव है, सूरसागर की रचना में भागवत तथा अन्य ग्रन्थों का कितना प्रभाव है, आदि का निर्णय इसके अन्तर्गत होता है। यह कार्य ग्रन्थों के पाठानुसंधान के बाद ही सम्भव है। हिन्दी के अधिकतर ग्रन्थों का पाठानुसंधान अभी तक नहीं हुआ है, इसीलिए इस दिशा में विशेष कार्य नहीं हो सका है।

उच्चतर आलोचना के द्वारा हम कवि के पाठ से आगे बढ़ कर उसकी रचना के सम्बन्ध में अन्य अनेक बातों को जानने का प्रयत्न करते हैं जो कि सतह पर प्रकट नहीं रहती हैं।

: ८ :

हिन्दी साहित्य की पाठ-समस्याएँ

किसी भी साहित्य के प्राचीन ग्रंथोंके संपादन में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी सामान्य कठिनाइयाँ हैं जो देश की सभी भाषाओं के प्राचीन ग्रंथों के सबंध में लागू होती हैं; कुछ विशेष भाषाओं की होती हैं; और कुछ ग्रंथ विशेष की होती हैं। इन सभी का वर्णन करना शक्य नहीं है। प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी साहित्य-संबंधी समस्याओं का ही विशेष उल्लेख किया जा रहा है।

सामान्य समस्याएँ

सामग्री के अभाव की समस्या—हिन्दी साहित्य के प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन में जो पहली समस्या सामने आती है, वह सामग्री की है। हिन्दी की हस्तलिखित प्रतियों की एक तो पूर्ण सूचनाएँ ही प्राप्त नहीं हैं, और यदि सूचनाएँ प्राप्त भी हैं तो उन प्रतियों को प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। प्रतियों के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि सामान्यतः यथेष्ट प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त नहीं हैं। मध्ययुगीन शायद ही किसी कवि की स्वहस्तलिखित, प्रति प्राप्त है। फलस्वरूप पाठालोचन की समस्या लगभग संपूर्ण प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य के साथ है। प्रतियों के सम्बन्ध में तीसरी कठिनाई पूर्ण प्रतियों के अभाव के कारण है। प्रतियों का त्रुटित होना साधारण बात है, और ऐसा कम ही है कि किसी ग्रन्थ की प्राचीन तथा पूर्ण प्रति उपलब्ध हो।

सामग्री की प्रामाणिकता की समस्या—उपलब्ध प्रतियों की प्रामाणिकता की भी समस्या महत्त्वपूर्ण हैं। जब से हस्तलिखित प्रतियों का महत्त्व समझा जाने लगा तभी से कुछ लोग इस क्षेत्र में जाल करने में प्रवृत्त हुए। मूल पुष्पिकाएँ बदली या नष्ट की जाने लगीं; प्रतिलिपि की तिथियों को परिवर्तित किया जाने लगा; और कभी-कभी तो नए ग्रन्थ तक रचे जाने लगे। इसलिए पाठालोचक के लिए अनिवार्य है कि वह सामग्री की प्रामाणिकता की कड़ी जाँच करे। कागज, स्याही, लेखन-शैली की पूरी जाँच हर प्रकार की प्रति के लिए आवश्यक है। यदि प्रति में तिथि के साथ वार भी दिया गया है तो तिथि-गणना भी नितांत आवश्यक है। इस क्षेत्र में एक्स-रे का उपयोग भी किया जा सकता है।

पाठ-वृद्धि की समस्या—पाठ-वृद्धि प्राचीन भारतीय संपादक, प्रतिलिपिकार, तथा सामान्य समाज की प्रमुख दुर्बलता रही है। अपनी प्रति का पाठ अधिक से अधिक पूर्ण हो, इस वासना के वशीभूत होकर क्षेपकों को मुक्त-हृदय से स्वीकार किया गया है। क्षेपकों की यह बहुलता प्रबंध-काव्यों में विशेष रूप से मिलती है जिसके कारणों पर आगे प्रकाश डाला जाएगा। सामान्य भारतीय प्रवृत्ति पाठ-संकोचन की नहीं है। फलस्वरूप एक ही ग्रन्थ के लघु और वृहद् रूपांतर उपलब्ध होने पर सामान्य संभावना यही है कि लघुरूपांतर मूल के अधिक निकट है, जब तक कि इसके विरोध में पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हों। पाठ-वृद्धि के ही अंतर्गत पाठ-मिश्रण की समस्या भी आती है। संपादकों और प्रतिलिपिकारों को सामान्यतः जब कहीं पाठान्तर मिला तो उन्होंने उसे हाशिए में लिख लिया। कालान्तर में ये पाठान्तर मूल पाठ में मिल गए और मिश्रित पाठ के आदर्श बने।

मूल लिपि की समस्या—कवि या रचयिता की मूल प्रति की लिपि की समस्या भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी प्रदेश में नागरी और फारसी लिपि के साथ-साथ मुंग, कैथी तथा प्रदेश-विशेष से प्रभावित एवं परिवर्तित नागरी लिपि के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। इन रूपों के पूर्ण ज्ञान के बिना लिपि जनित भ्रमों का निराकरण संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त नागरी से फारसी और फारसी से नागरी लिपि में लिप्यान्तर में अनेक विकृतियाँ स्वयमेव आ जाती हैं जिनका निराकरण रचयिता की प्रति की लिपि का निर्णय किए बिना करना कठिन है। जायसी की मूल प्रति के फारसी लिपि में मानने के कारण डॉ० गुप्त के पूर्व के सम्पादक पद्मावत का शुद्ध पाठ प्रस्तुत न कर सके।

छंदों की समस्या—हिन्दी के अधिकतर छंद प्राकृत-अपभ्रंश से आए हैं। इन छंदों के साहित्यिक मानक रूपों के अतिरिक्त लोक प्रचलित रूपांतर भी रहे होंगे। पाठालोचक को प्राचीन एवं मध्ययुगीन ग्रन्थों में ऐसे छंद प्राप्त हो सकते हैं जो कि मान्य साहित्यिक छंद की कसौटी पर खरे न उतरे। ऐसी स्थिति में छंदों के संशोधन की तीव्र अभिलाषा से पाठालोचक को सावधान रहना चाहिए। संभव है कि ये छंद लोक-प्रचलित छन्द के अनुरूप हो अथवा रचयिता की अज्ञता अथवा असावधानी के कारण अशुद्ध हों।

इन सामान्य समस्याओं के प्रति सजग रह कर ही पाठालोचन के कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए।

हिन्दी साहित्य के विशिष्ट रूपों की समस्याओं का संक्षेप में निर्देश नीचे किया जा रहा है।

प्रबन्ध-काव्य की समस्याएँ

प्रबन्ध-काव्य की सबसे प्रमुख समस्या प्रक्षेपों की है। ग्रंथों में इन प्रक्षेपों को मिलाने के निम्नलिखित कुछ कारण हैं :—

(१) यदि किसी स्थल पर कथा अधूरी लगती है तो वहाँ प्रक्षेप मिला दिए जाते हैं। इसके पीछे ग्रंथ को पूर्ण बनाने की लालसा और ग्राहक या पाठक की इच्छा-पूर्ति की मनोवृत्ति रहती है। यदि किसी ग्रन्थ में ऐसी कथा मिलती है जिसको जोड़ने से संपाद्य ग्रन्थ की कथा पूर्णता प्राप्त कर ले तो उस कथा को सम्पादक जोड़ देते हैं। मधुसूदन दास कृत रामाश्वमेध काव्य लवकुश कांड नाम से इसी रूप में मानस में जोड़ा जाने लगा था।

(२) वृहत्तम पाठ का आकर्षण संपादक और प्रतिलिपिकारों को प्रक्षेपों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता था।

(३) वर्णन-विस्तार की इच्छा से प्रेरित होकर स्वल्प वर्णन वाले स्थलों को प्रक्षेप के द्वारा पूरा कर लिया जाता है। रासो में आखेट आदि का, और पद्मावत में जातियों तथा पकवानों के वर्णनों में ऐसा ही हुआ है।

(४) कभी-कभी अपने साम्प्रदायिक सिद्धांतों को समावेश करने का लालच भी प्रक्षेप द्वारा पूर्ण किया जाता है।

(५) आदर्श के त्रुटित अंश को पूर्ण करने के लिए प्रतिलिपिकार प्रक्षेप जोड़ देते हैं।

(६) पूर्वापर विरोध दूर करने के लिए भी प्रक्षेप जोड़े जाते हैं। महाभारत के आदिपर्व के बम्बई संस्करण में युधिष्ठिर की युवराज-पद पर नियुक्ति, तथा अर्जुन का अपने गुरु से युद्ध करने का प्रायश्चित इसी प्रकार के प्रक्षेप हैं।

(७) नवीन कथाओं का प्रवेश।

इन कारणों से प्रति मूल से जितनी दूर की होती जाती है उतने ही अधिक प्रक्षेप उसमें बढ़ते जाते हैं। पाठ-वृद्धि के विपरीत पाठ-संकोच की प्रवृत्ति हिन्दी में नहीं मिलती है।

इन प्रक्षेपों से बचने के निम्नलिखित उपाय हैं:—

(१) कवि की शैली की नकल कठिन है। अतः प्रक्षेप में अकसर शब्दावली तथा पंक्ति की पंक्ति एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रख दी जाती है। ऐसे प्रक्षेपों में शब्दावली तो कवि की रहती है पर प्रयोग कवि के से नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें यथेष्ट पुनरुक्ति भी मिलती है।

(२) कभी-कभी प्रक्षेपों के गलत क्रम से भी उनका पता लग जाता है।

(३) कवि की विचारधारा और प्रसंग द्वारा भी इन्हें पहचाना जा सकता है। उदाहरणार्थ गुरु-पूजा के छंद कबीर की विचार-धारा के विरुद्ध हैं, अतः प्रक्षिप्त हैं। इसी प्रकार आध्यात्म रामायण के अनुरूप मानस की कुछ प्रति में राम भरत पर शंका करते हैं। यह कवि की विचारधारा के प्रतिकूल है, अतः प्रक्षिप्त है।

(४) प्रतिलिपि-सम्बन्ध-निर्धारण द्वारा भी प्रक्षेप अलग किए जा सकते।

इसके अतिरिक्त प्रबंध-काव्य की अन्य समस्याओं का संकेत सामान्य समस्याओं के अन्तर्गत आ गया है।

मुक्तक-काव्य की समस्याएँ

मुक्तक-काव्य स्वतंत्र होने के कारण कुछ ऐसी समस्याओं से युक्त होता है जो कि प्रबंध-काव्य में नहीं होती हैं। इनमें सबसे प्रमुख समस्या क्रम की है। मुक्तक रचनाओं में सामान्यतः कोई क्रम नहीं होता है। सूरसागर, विनय-पत्रिका आदि का क्रम भी ऊपरी है। वास्तव में यह क्रम रचना को बाद में दिया जाता है। विनय-पत्रिका ही की दो परम्पराएँ हैं—(क) रामगीतावली तथा (ख) विनय-पत्रिका की। इन दोनों में लगभग १०० छंदों का अंतर है। ऐसा अनुमान है कि राम गीतावली को जब विनय-पत्रिका का रूप दिया जाने लगा उस समय तुलसी को ये १०० छंद जोड़ने पड़े। इसके अतिरिक्त रामगीतावली के अनेक पद विनय-पत्रिका में नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि विनय-पत्रिका प्रारंभ में मुक्तक रूप में थी। पर साथ ही साथ यह निश्चिय करना भी बड़ा कठिन हो जाता है कि जो पद रामगीतावली के हैं वे मूल के हैं या नहीं।

क्रमों के उलट-फेर—की समस्या भी मुक्तक-काव्य की है। मुक्तकों के क्रमों के उलट-फेर के अनेक उदाहरण मिलते हैं। बिहारी सतसई के ही लगभग १४ क्रम हैं। ऐसी स्थिति में क्रम-निर्णय जटिल कार्य है।

मुक्तकों में प्रक्षेप-निर्णय की समस्या और भी कठिन है, क्योंकि उनके संबंध में प्रसंगादि की वह कसौटी उपलब्ध नहीं है जो कि प्रबंध-काव्यों के संबंध में है। इनमें प्रक्षेप सरलता से खप सकते हैं तथा सूर, कबीर, मीरां आदि के नाम से न जाने कितने प्रक्षिप्त पद, दोहे और गीत प्रचलित हैं।

मुक्तकों के संबंध में तीसरी समस्या बृहद् और संक्षिप्त पाठ की भी है। प्रबंध-काव्यों में जहां सामान्य रूप से पाठ-विस्तार ही हुआ है, संकोच नहीं, उसके विपरीत इच्छानुसार पाठ-चयन द्वारा मुक्तकों की संक्षिप्त पाठ-परम्पराएं अधिक उपलब्ध होने की संभावना है। कहीं नीति के दोहों का संग्रह है, तो कहीं भक्ति अथवा शृंगार का। कहीं रागमाला के अनुसार छंद संगृहीत हैं, तो कहीं ऋतु-वर्णन के अनुसार। अतएव इनके सम्बन्ध में संक्षिप्त पाठ ही मूल के निकट है वाला सिद्धांत सदा लागू नहीं हो सकता है।

मुक्तकों के सम्बन्ध में भाषा-परिवर्तन की भी समस्या है। बड़ी मात्रा में इनकी मौखिक परम्पराएं भी है, जिसके कारण इनकी भाषा जन-भाषा के निकट हो गई है और कवि की भाषा नहीं रहती। इसलिए इनके संपादन में भाषा-रूप का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। इसी से मिलती जुलती छंद की समस्या है, और वह भी विशेष कर गेय मुक्तकों के सम्बन्ध में। संगीत की आवश्यकतानुसार उनके छंदों की मात्रा में यथेष्ट परिवर्तन की संभावना है।

मुक्तकों में सांप्रदायिक पाठ-वृद्धि की संभावना भी बहुत अधिक है। अपने संप्रदाय की विचारधारा अनुकूल पदों का जोड़ा जाना सरल है, और बहुत अधिक हुआ भी है।

मौखिक परम्परा रूप में प्रचलित मुक्तकों के सम्बन्ध में भाषा की समस्या भी है। विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित होने के कारण इनकी विशिष्ट भाषा जन परम्पराएं बन जाती हैं। कबीर की राजस्थानी, पंजाबी, पूरबी आदि परम्पराए हैं। इसके समाधान के बाद ही उनकी मूल रचना प्राप्त की जा सकती है।

गद्य की सहायता-

पाठालोचन की दृष्टि से गद्य-साहित्य गौण महत्त्व का है, क्योंकि एक तो यह लिखा ही कम गया है, और दूसरे इसकी इतनी सीमित परम्पराएं हैं कि विशेष जाल, प्रक्षेप आदि नहीं हुए हैं। जाल मुख्यतः दान-पत्रों में ही मिलता है।

आलोच्य ग्रन्थ की पाठ-समस्याओं की ओर से सतर्क रह कर पाठालोचक अनेक ऐसी कठिनाइयों को दूर कर के मूल पाठ तक पहुंचने में समर्थ होता है, जिस तक पहुंचना अन्यथा दुर्लभ है।

: ६ :

हिन्दी-पाठालोचन का संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों के पाठालोचन में प्राचीन प्रतियों का संग्रह एवं उनको प्राप्त करने की कठिनाई सदा बाधक रही हैं। हिन्दी-प्रेमियों को विदित ही है कि प्राचीन प्रतियों के समुचित संग्रह एवं सूचीकरण की ओर प्रथम प्रयास सन् १९०० में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रारंभ हुआ था। इसके बाद अपने-अपने रूप में अनेक संस्थाओं ने इस कार्य को बढ़ाया। इन संस्थाओं के संग्रहालयों में कुछ ग्रंथ सुलभ हैं, किन्तु हिन्दी साहित्य की अधिकतर प्राचीन प्रतियाँ अभी भी बेठनों में लिपटी हुई दीमकों का आहार हो रही हैं, अथवा किसी कृपक्ष संग्रहकर्त्ता या महन्तादि की कृपा दृष्टि के अभाव में अपने भाग्य को रो रही हैं। ऐसी स्थिति में मूल सामग्री के अभाव के कारण पाठालोचन असंभव है। साथ ही हिन्दी में वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति को प्रवेश हुए भी लगभग दस वर्ष ही हुए हैं। अतएव वैज्ञानिक पाठालोचन का इतिहास लगभग एक दशक में ही सिमटा हुआ है। फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है इसके पूर्व रसिक और विद्वानों में कवि के मूल पाठ को प्राप्त करने की इच्छा नहीं थी। स्थिति ठीक इसके विपरीत थी। प्रतिलिपि द्वारा पाठ-भ्रष्ट एवं पाठ ह्रास से समाज सदा से परिचित रहा है, और रचयिता के मूल पाठ को प्राप्त करने का प्रयत्न विद्वज्जन सदा से करते आए हैं। पाठालोचन के इतिहास में इन प्रयत्नों को भुलाया नहीं जा सकता। पाठालोचन के इस इतिहास को दो युगों में बाँटा जा सकता है। उन युगों, एवं उनके अंतर्गत आने वाले कालों की सामान्य प्रवृत्तियों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

प्राचीन युग (१९ वीं शताब्दी के पूर्व)

इस युग में पाठालोचन के क्षेत्र में किए गए कार्यों की कोई निश्चित सामग्री नहीं मिलती है। जो कुछ ज्ञात है वह स्फुट उल्लेख रूप में ही है। इस काल की सामान्य प्रवृत्ति अधिकतर पाठ प्रस्तुत करने की है। फलस्वरूप एक प्रति के प्रक्षेप दूसरी प्रति में आग्रह के साथ स्वीकार किए गए। इससे पाठ-वृद्धि के साथ-साथ पाठ-मिश्रण भी खूब हुआ। पृथ्वीराज रासो के चार रूपांतर—लघुतम (४५० छंद), लघु (११०० छंद), मध्यम (३३०० छंद) तथा वृहद् रूपाँतर (१०, ५०० छंद)—संभवतः इसी प्रवृत्ति के प्रमाण है। रासो के छंदों का संकलन कई बार हुआ है, जिनमें चन्द्रसिंह या चन्द्रनन्द, कवि कवका एवं अमरसिंह के प्रयास प्रमुख हैं।

इस युग की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति पाठांतर लिखने की है। जब कभी किसी रसिक को किसी ग्रंथ की एक से अधिक प्रति मिल जाती होगी तभी वह उनके मिलान द्वारा अपनी प्रति को शुद्ध करने का प्रयत्न करता रहा होगा। इस प्रयत्न में अक्सर पाठांतर हाशिये में लिख लिए जाते थे, जो कि नई प्रतिलिपि करते समय मूल में समाविष्ट कर लिए जाते थे। रासो के लघुतम रूपांतर की एक प्रति में पाठांतर 'ऊपर पाठान्तर' लिख कर दिए गए हैं। पद्मावत की प्रतियों में ऐसे अनेक पाठान्तर मिलते हैं जो कि उनके पूर्वज के हाशिए में लिखे होंगे और जिन्हें बाद में मूल में मिला लिया गया होगा।

इस युग की तीसरी प्रवृत्ति, विशेष कर मुक्तक रचनाओं को विशिष्ट क्रम से सजा कर प्रस्तुत करने की भी रही है। बिहारी सतसई के १४ क्रम मिलते हैं। कबीर की एक विशिष्ट शाखा में 'अंगों के नाम से शीर्षक देने की प्रवृत्ति है।

इस युग की चौथी प्रवृत्ति पाठ-मिश्रण एवं पाठ-सुधार की थी। राज्याश्रित राजकवि आदि जब किसी ग्रंथ का संपादन करते होंगे तो अधिक अच्छा लगने वाला पाठ स्वीकार कर पाठ मिश्रण, तथा ठीक न लगने वाले पाठ में परिवर्तन कर पाठ-सुधार कर देते होंगे। इन समस्त क्रियाओं के मूल में कवि के पाठ को प्राप्त करने की इच्छा सदा रहती होगी किन्तु पूर्ण प्रामाणिक सामग्री के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। फिर भी इतना निश्चित है कि उस समय वैज्ञानिक पाठालोचन का पूर्ण अभाव था।

मुद्रण कला के विकास के पूर्व अधिकतर ग्रंथों की विभिन्न पाठ परंपराएं चला करती थीं, जिन्हें वर्ग विशेष प्रामाणिक माना करते थे। उदाहरण के लिए कबीर की कई पाठ-परंपराएँ हैं। विभिन्न मत वाले अपनी-अपनी परंपरा को ही प्रामाणिक मानते हैं। कबीर पंथी गद्दी तथा शिष्य-परंपरा में सुरक्षित पाठ को प्रामाणिक मानते हैं। कभी-कभी तो एक ही परंपरा की उप परंपराएँ भी हो जाती हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न लोग प्रामाणिक मानते हैं। कबीर की गद्दी परंपरा में 'बीजक' का पाठ मान्य है। पर यह बीजक भी दो परंपराओं में प्राप्त है। एक तो गद्दी का बीजक और दूसरा भगवान दास (भग्गूदास) का बीजक। कथा है कि भगवानदास असली बीजक को चुराकर भाग गए थे, अतः बहुत से लोग इसकी परंपरा के पाठ को ही प्रामाणिक मानते हैं। दूसरों का कहना है कि भगवानदास के हाथ तो नकली बीजक लगा, असली तो गद्दी पर ही रह गया, और वही प्रामाणिक है। सत्य शायद यह है कि दोनों ही शायद एक आदर्श की प्रतिलिपियां है। इसी प्रकार रामसनेही, दादू पंथी तथा गुरुग्रंथ साहब की भी कबीर की परंपराएं हैं जिन्हें विभिन्न लोग अलग-अलग मात्रा में प्रामाणिक मानते हैं। इस प्रकार इस युग में साम्प्रदायिक विचार एवं विश्वास के अनुसार पाठ को प्रामाणिक माना जाता रहा। यह स्थिति १९वीं शताब्दी के बाद भी चलती रही। यहाँ तक की डॉ० रामकुमार वर्मा ने गुरुग्रंथ साहब में उपलब्ध कबीर के पाठ को, तथा डॉ० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ संप्रदाय में उपलब्ध

होने के कारण कुछ ग्रंथों को प्रामाणिक माना है। ऐसी ही कुछ स्थिति मानस के पाठ के संबंध में भी है।

कुछ प्रतियों की प्रामाणिकता उनके प्राप्ति स्थान के आधार पर भी की जाती है। यदि कवि की वंश परंपरा में प्राप्त है तो उसका पाठ प्रामाणिक है। नानूराम भाट अपने को चंद की वंश परंपरा का मानते हैं, और अपने पास रासो की मूल प्रति बतलाते हैं। उन्होंने अपना वंश वृक्ष भी बनाया है जिसमें सूरदास तक आ जाते हैं। ऐसी ही वंश परंपरा तुलसी के संबंध में भी प्रचलित है। कहा जाता है कि उन्होंने मानस की प्रति अपने भाई नंददास के पुत्र कृष्ण दास को दी थी। वही प्रति सोरों में प्राप्त है और प्रामाणिक है। अभी हाल में डॉ० नगेन्द्र ने देवमाया प्रपंच नाटक को इसी आधार पर प्रामाणिक माना है कि वह देव के वंशधर मातादीन के यहाँ प्राप्त है ऐसी वंश-परंपराओं को करने के लिए बड़े-बड़े जाल भी रचे जाते है। यथार्थ में जैसा कहा जा चुका है उस काल में पाठालोचन नाम की कोई वस्तु न थी। राजा-महाराजा धनी-मानी व्यक्ति प्रतियां इकट्ठा करा कर विद्वानों द्वारा पाठ-निर्धारण कराते थे। इनमें सामान्यतः पाठ-वृद्धि ही होती थी, जिसका कारण प्रति को पूर्ण बनाने, प्रासांगिक कथा जोड़ने आदि की इच्छा रहती है। यह नया पाठ राजा या विद्वान के नाम से चलता। अक्सर इसके साथ ग्रंथ की टीका भी कराई जाती। महाराजा बनारस ने काष्ठ जिह्वा स्वामी के द्वारा मानस का पाठ शुद्ध कराकर उसकी टीका भी कराई थी।

पाठालोचन या संपादन का कार्य टीकाकार एवं प्रतिलिपिकार भी करते थे। इसमें मिश्रित पाठ के विकास की संभावनाएं अधिक हुआ करती हैं। प्रतियों के स्वामी भी संशोधन पाठांतर हाशिये में लिख लिया करते थे। यथार्थ में यह सब कार्य पाठालोचन के अंतर्गत नहीं आते है।

संक्षेप में पाठ की प्रामाणिकता के आधार निम्नलिखित थे :—

(क) साम्प्रदायिक दृष्टिकोण
(ख) गुरुशिष्य-परंपरा
(ग) अनुश्रुति
(घ) कवि की वंश-परंपरा।

संपादन के निम्नलिखित रूप मिलते हैं :—

(क) राजा-महाराजा द्वारा पाठ निर्धारण—सामान्यतः पाठ-वृद्धि
(ख) टीकाकारों द्वारा संपादन
(ग) प्रतिलिपिकारों द्वारा संपादन और मिश्र पाठ की सृष्टि
(घ) प्रति के स्वामी द्वारा संपादन

इस युग में संपादन का जो कार्य हुआ है वह यथार्थ संपादन नहीं है।

आधुनिक युग (१६ शताब्दी के उपरांत)

आधुनिक युग में मुद्रण-कला का प्रचार हुआ। ग्रंथ जन साधारण की पहुंच

में आने लगे। अतः ग्रंथों के संपादन की विशेष आवश्यकता अनुभव की गई। इस युग के इतिहास को समझने के लिए इसे कई कालों में बाँट कर अध्ययन करना होगा। यह विभाजन संपादन की सामान्य प्रवृत्तियों पर आधारित है, किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि एक काल की प्रवृत्तियाँ आगामी कालों में भी उपलब्ध हो सकती हैं।

(क) पूर्व ग्रियर्सन काल (सन् १८००-१८६६ ई०)

इस काल में सम्पादन के क्षेत्र में पाठ की प्रामाणिकता पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना कि वृहत्तम पाठ उपलब्ध करने पर दिया गया। इसके कारण मिश्रपाठ के संस्करण बहुत प्रचलित हुए। क्षेपक दोष की जगह गुण माने जाने लगे। मानस आठों काण्ड और क्षेपक सहित कह कर बेची जाने लगी। इस प्रकृति के मूल में ग्राहक का दृष्टिकोण था। ग्राहक को इससे मतलब नहीं था कि अमुक पाठ कविकृत है या नहीं। वह तो एक ही स्थल पर अधिकतम पाठ संपूर्ण विस्तार के साथ प्राप्त करना चाहता था।

इस काल की दूसरी प्रवृत्ति पाठ-संशोधन की थी। संपादक अधिकतर पंडित वर्ग के थे और उद्भव शब्दों के तत्सम रूप उन्होंने देना प्रारम्भ कर दिया था। स्याम का श्याम, समुंद का समुद्र बनाया गया।

इन अवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के होते हुए भी पग बढ़ाया गया। प्राचीन प्रति मिलने पर बहुत ही कम परिवर्तन के उसका पाठ दिया जाने लगा था। यह पाठ अकसर एक प्रति के आधार पर ही होता था। सच्चे सम्पादन की दिशा में यह पहला पग था।

सम्पादन की दिशा में दूसरा पग कई प्रतियों के आधार पर पाठ देने से प्रारम्भ होता है। इसमें प्रतियों का बहुमत लेकर तथा छन्द, गति आदि की दृष्टि से संशोधन कर पाठ दिया जाता था। यह पद्धति वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि प्रतियों का बहुमत महत्त्वपूर्ण नहीं, उनकी स्वतन्त्र शाखाएं और मूल्य महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार का प्रमुख सम्पादन भागवतदास कृत मानस का है। इसके सम्पादन में सं० १७२१, १७६२ की प्रतियों के अतिरिक्त छक्कनलाल समूह की प्रति का भी प्रयोग किया गया है। संपादन ने अधिकतर पाठ सं० १७२१ तथा १७६२ की प्रति के अनुसार रखा है। कहीं इन दोनों की अवहेलना करके छक्कनलाल के पाठ को भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार के सम्पादन में प्रतिलिपि सम्बन्ध का ध्यान नहीं रखा गया है।

(ख) ग्रियर्सन काल (१८८८ ई०-१९११ ई०)

ग्रियर्सन ने पं० सुधाकर द्विवेदी के सहयोग से कई ग्रन्थों के अच्छे पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। ये ग्रन्थ बिहारी सतसई, मानस तथा पद्मावत हैं। इनमें भी पद्मावत का सम्पादन विशेष परिश्रम से किया गया है।

ग्रियर्सन ने सन् १८८८ में बिहारी सतसई का लालचन्द्रिका वाला रूप प्रकाशित कराया। लाल चन्द्रिका सतसई की आजमशाही क्रम की टीका है। सतसई

का आजमशाही क्रम हरजू मिश्र नामक कवि ने आजमगढ़ाधीश आजमखां या आजमशाह के लिए तैयार किया था। ग्रियर्सन ने इसके सम्पादन में एक लम्बी भूमिका दी है किन्तु उसमें पाठ-सम्पादन के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। यथार्थ में यह संस्करण लाल चन्द्रिका के प्रथम संस्करण का कुछ पाठ-सुधार के साथ पुनर्मुद्रण मात्र था। इस पाठ-सुधार का सिद्धान्त यह था कि दोहों को टीका के अर्थ के अनुरूप बनाया जाए। इस प्रकार यह बिहारी के पाठ को देने का प्रयत्न नहीं है। इसमें पाठालोचन न होकर पाठ-चयन है, क्योंकि टीका को ही प्रधानता दी गई है।

ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित मानस उपलब्ध नहीं है। अतः उस पर कुछ कहना कठिन है। अनुमान है कि यह भी सतसई की ही भाँति संपादित था।

ग्रियर्सन का प्रमुख सम्पादन पद्मावत का है। इसके सम्पादन में ग्रियर्सन ने लगभग सात प्रतियों का प्रयोग किया है। इन सात प्रतियों में से उन्होंने एक प्रति को आधार मान लिया है, तथा सामान्यतः इसी के पाठ को लिया है। किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने प्रतियों के बहुमत का सिद्धान्त भी अपने सामने रखा है। ग्रियर्सन के ये दोनों ही सिद्धान्त स्वयमेव अवैज्ञानिक थे। फिर भी ग्रियर्सन के पास पद्मावत के उत्कृष्टतर पाठ देने की सामग्री थी और निम्नलिखित त्रुटियाँ आदि इसमें बाधक न होती तो वे सुन्दर सम्पादन कर सकते थे—

(१) ग्रियर्सन की आधार प्रति ठीक न थी। यह बहुत नीचे की स्थिति की थी। उनके पास इससे ऊंची स्थिति की प्रति भी थी, पर इस बाद की प्रति की स्वच्छता, सुलिपि, नुक्ते, शोशे से परिपूर्ण होने के कारण वे भ्रम में पड़ गए।

(२) इन्होंने इस आधार प्रति की पूर्ण परीक्षा नहीं की। इसके नुक्ते-शोशे बाद के बनाए हुए थे। इसके अतिरिक्त इसमें एक अन्य शाखा का पाठ-मिश्रण भी था।

(३) उनकी अधिकतर प्रतियाँ निम्न स्तर की थी। अतः उनसे प्राप्त पाठ भी नीचे स्तर का था।

(४) कहीं-कहीं ग्रियर्सन ने अत्यन्त निम्नस्तर की तथा भ्रष्ट पाठ देने वाली प्रति का भी पाठ स्वीकार कर लिया है। पद्मावत का सुप्रसिद्ध 'तन चितउर मन राजा' वाला पाठ ऐसी ही भ्रष्ट कैथी प्रति का है जिसकी भ्रष्टता को वे स्वयं स्वीकार कर चुके हैं।

(५) ग्रियर्सन ने ग्रन्थ की मूल लिपि के सम्बन्ध में गलती की। उनका अनुमान था कि मूल ग्रन्थ फारसी लिपि में था। अतः लिपि जनित विकृतियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

(६) भाषा के स्वरूप से अपरिचित होने के कारण भी कई स्थानों पर दोष रह गए हैं।

(७) अनेक स्थलों पर उन्होंने बहुमत एवं आधार प्रति के साक्ष्य की अवहेलना की है और निकृष्ट तथा प्रक्षिप्त पाठ स्वीकार कर लिए हैं।

इन्हीं सब कारणों से ग्रियर्सन कवि का पाठ न दे सके। उन्होंने प्रतियों के वंश-वृक्ष निर्माण का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि वे पाठालोचन के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे।

इस काल की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

सामान्यतः ग्रन्थों का पाठ एक प्रति के आधार पर प्रकाशित किया जाता था। मनमाने संशोधन होते थे। तद्भव शब्दों की जगह तत्सम शब्द भरे जाते थे। सम्पादन-सामग्री आदि का उल्लेख कम होता था, पाठ को सुपाठ्य बनाने की तथा खींचतान कर अर्थ करने की प्रवृत्ति थी। नवलकिशोर प्रेस, काशी नागरी प्रचारणी सभा के सम्पादन ऐसे ही हैं। सन् १९११ में पद्मावत के प्रकाशन के साथ इस युग को समाप्त माना जा सकता है।

ग्रियर्सनोत्तर काल (सन् १९१२-१९४०)

यह काल अनेक ग्रन्थों के सम्पादन का है। उच्च कक्षाओं में हिन्दी की बढ़ती हुई मान्यता के कारण प्राचीन साहित्य के सम्पादन की आवश्यकता अनुभव की गई और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन हुआ। इन सम्पादनों में एक ओर जहाँ पूर्व ग्रियर्सन एवं ग्रियर्सन काल की पद्धतियाँ अपनाई गईं तो दूसरी ओर सम्पादन-कार्य में वैज्ञानिकता का प्रवेश भी धीरे-धीरे होने लगा। इस काल के सम्पादक यद्यपि पाठालोचन के सिद्धान्तों से अपरिचित थे किन्तु कवि के मूलपाठ को प्राप्त करने की इच्छा तथा अधिकाधिक प्रतियों के प्रयोग की कामना सर्वत्र दिखलाई देती है। इस युग के पाठालोचन की दृष्टि से सबसे प्रसिद्ध संपादक पं० रामचन्द्र शुक्ल, बा० जगन्नाथदास रत्नाकार और पं० उमाशंकर शुक्ल है। साहित्य और सम्पादन के क्षेत्र में अपनी ख्याति के विलोम अनुपात में इनका कार्य वैज्ञानिकता के निकट है।

आचार्य शुक्ल ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, किन्तु यथार्थ में यह उनका क्षेत्र न था। उनका यश उनकी सीमाओं के कारण है, सम्पादन के कारण नहीं। सन् १९२३ में उन्होंने तुलसी ग्रंथावली का सम्पादन किया। इसमें मानस का पाठ सं० १७०४ की प्रति का पाठ स्वल्प संशोधनों के साथ है। इस प्राचीन प्रति में विशेषकर अरण्य तथा किष्किंधा कांड में बहुत अधिक प्रक्षेप हैं जो कि सम्पादित पाठ में आ गए हैं। अयोध्याकांड का पाठ राजापुर की प्रति के अनुसार रखा गया है पर उसमें भी यथेष्ट संशोधन हैं। राजापुर का हरांस>हरासु; जौं>जो, करऊं>करौं; राखहुं>राखहु; जाहि>जाइ; रूपरासि>रूपराशि; करतबु> करतब आदि हो गया है, यद्यपि कहा यही गया है कि राजापुर की प्रति का ज्यों का त्यों पाठ दिया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य पाठ-भेद भी कर दिए गए है। तुलसी ग्रंथावली के अन्य ग्रन्थों के पाठ के आधार का उल्लेख नहीं किया गया है।

शुक्ल जी का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ पद्मावत है। इसके सम्पादन में उन्होंने पूर्ववर्ती सम्पादकों की यथेष्ट खिल्ली उड़ाई है। ऐसे सम्पादकों में ग्रियर्सन और पं सुधाकर द्विवेदी आते हैं। फिर भी शुक्ल जी पद्मावत के संपादन में ग्रियर्सन से आगे न बढ़ सके। ग्रियर्सन के सम्पादन के लगभग समस्त दोष उनके संपादन में प्राप्त हैं। अपने पद्मावत के चार संस्करणों—नवलकिशोर प्रेस, रामजसन मिश्र, कानपुर के शेख अहमदअली तथा ग्रियर्सन—का उल्लेख एवं प्रयोग किया है पर पाठान्तर में इनमें से किसी का भी पाठ नहीं दिया है। यथार्थ में शुक्ल जी उस विचारधारा के थे कि संपादन के बाद पाठक को पाठ के संबन्ध में और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है। अपने प्रथम तीन संस्करण को निकृष्ट बताया है, तथा ग्रियर्सन के संस्करण की अच्छी खासी आलोचना की है। उनके अर्थ (सुधाकरी अर्थ) की चुटकी लेते हुए उन्होंने कहा है कि अर्थ ठीक न लगने पर ग्रियर्सन ने पाठ विकृत कर दिया है। इसके तीन उदाहरण दिए गए हैं। प्रथम उदाहरण में

कतहुँ चिरहंटा पखिन्ह लावा—शुक्ल जी का पाठ
कतहुं छरहटा पेखन्ह लावा—ग्रियर्सन का पाठ

शुक्ल जी ने चिरहंटा का अर्थ 'बहेलिया' तथा ग्रियर्सन ने छरहटा का अर्थ का अर्थ 'नकल करने वाला' किया है। शुक्ल जी का यह पाठ नवल किशोर प्रेस वाले संस्करण का है जिसे कि वे स्वयं अत्यन्त भ्रष्ट मान चुके हैं। 'चिरहटा' का बहेलिया अर्थ भी उन्होंने मन माने ढंग से किया है। इसी पंक्ति में पेखन्ह को सुधार कर उन्होंने पखिन्ह कर दिया है इसी प्रकार की पाठ विकृत्तियों उन्होंने अन्यत्र भी की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसंग में ठीक और छन्द गति आदि से शुद्ध पाठ ही की कसौटी पर आपने पाठ-चयन किया है। शायद इसी कारण से अपने ग्रन्थ की कुंजी वाला प्रक्षिप्त छन्द भी स्वीकार कर लिया हैं।

शुक्ल जी ने संपादन में प्रतियों के संबन्धिादि का ध्यान नहीं रखा है और पाठालोचन की कसौटी पर उनके ग्रंथ अति साधारण उतरते है। शुक्ल जी की परम्परा में कुछ सतर्कता के साथ अभी भी ग्रंथों के सम्पादन हो रहे हैं।

इस युग में पाठान्तर को देने वाला प्रथम ग्रन्थ प्रयाग के लीडर प्रेस से प्रकाशित पं विजयानन्द त्रिपाठी का मानस का संस्करण है। यह सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ। इसमें कई प्रतियों के पाठान्तर दिए हैं। सम्पादक के अनुसार बालकांड का पाठ सं० १६६१ की प्रति का (जिसे भ्रमवश कवि की स्वहस्तलिखित तथा सं० १६६१ की समझा जाता था)' अयोध्याकांड का पाठ राजपुर की प्रति का, और शेष भागवतदास खत्री की परम्परा का है। सं० १६६१ तथा राजापुर की प्रति में पाठ-संशोधन यथेष्ट हुआ है, और सम्पादक ने कहीं मूलपाठ और कहीं संशोधित पाठ स्वीकार किया है। खत्री के पाठ में भी उन्होंने स्वयं संशोधन कर दिया है। इस सम्पादन में त्रिपाठी जी ने राजापुर की प्रति की प्रतिलिपि की अनेक भूलों को

खींच तान कर शुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, तथा कवि के प्रयोग और प्रवृत्ति की उपेक्षा करके विचित्र पाठों को स्वीकार किया है। इन विचित्र पाठों को उन्होंने पांडित्य पूर्ण लम्बी लम्बी टिप्पणियों में समझाया है। गीताप्रेस, गोरखपुर से मानसांक रूप में प्रकाशित मानस का पाठ भी इसी की परम्परा का है।

इसी बीच में सन् १९२५ में 'रत्नाकर' ने बड़े परिश्रम से अनेक प्रतियों की सहायता से "बिहारी सतसई' का संपादन कर उसे प्रकाशित किया। इस संपादन की बड़ी धूम रही पर यह भी पाठालोचन के सिद्धांतों से अनभिज्ञता के कारण विशेष अच्छा न हो सका। इसके संपादन में भी प्रतियों की प्राचीनता और बहुमत को आधार माना गया जो कि वैज्ञानिक नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि 'रत्नाकर' यदि पाठालोचन के सिद्धांतों से परिचित होते तो इसका वे संपादित संस्करण निकालने में अवश्य सफल होते। सतसई के इस संपादन में यथेष्ट पाठांतर दिए गए हैं पर वे संपूर्ण नहीं हैं। संपूर्ण पाठांतर न होने से इसकी उपयोगिता बहुत कम हो गई है। इस संस्करण के आधार पर 'सतसई' की प्रतियों का प्रतिलिपि-सम्बन्ध आदि नहीं लगाया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस संस्करण की सबसे बड़ी कमी 'रत्नाकर' के भाषा-सम्बन्धी सुधार हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि दोहे तो बिहारी के हैं पर उनकी भाषा पर क़लई 'रत्नाकर' की है।

'रत्नाकर' ने सूरसागर के संपादन का कार्य भी उठाया था जो कि नन्ददुलारे बाजपेयी द्वारा पूरा होकर प्रकाशित हुआ है। इसके संपादन सिद्धान्त भी सम्भवतः सतसई के समान ही हैं। सूरसागर में उनके विषय में कोई संकेत नहीं हैं। संपूर्ण ग्रन्थ में एक भी पाठांतर नहीं दिए गए हैं।

'रत्नाकर' के बाद संपादन के क्षेत्र में प्रगति पं० उमाशंकर के कवित्त रत्नाकर और नंददास ग्रन्थावली के संपादन से हुई। इन ग्रन्थों में संपादक ने प्रयुक्त सामग्री का संक्षिप्त परिचय, संपादन-सिद्धांत तथा पाठांतर दिए हैं। संपादन का आधार प्राचीनतम प्रति तथा कवि के प्रदेश की प्रति है। लेखक ने पाठ-सुधार का प्रयास नहीं किया है इस प्रकार से यथेष्ट शुद्ध पाठ देने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु यह पाठ पूर्ण शुद्ध नहीं हो सकता है। इसमें प्रतियों का सम्बन्ध-निर्धारण नहीं किया गया है। पाठांतर भी पूरे नहीं दिए गए हैं। फिर भी वैज्ञानिक संपादन की ओर यह महत्त्वपूर्ण कदम है।

इस काल के अन्य प्रसिद्ध संपादित ग्रन्थ श्री सूर्यकरण पारीख तथा श्रीरामसिंह द्वारा संपादित क्रिसन रुक्मिनी री वेलि तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित भूषण ग्रन्थावली हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस काल की निम्नलिखित प्रवृत्तियां स्पष्ट होती हैं—

(१) वैज्ञानिक संपादन न होते हुए भी अनेक प्राचीन प्रतियों का उपयोग।

(२) भूमिका में प्रतियों और संपादन-सिद्धान्त का परिचय देना ।

(३) प्राचीन तथा कवि के प्रदेश से प्राप्त प्रति को महत्व देना ।

(४) अधिक (समस्त नहीं) पाठांतर देना ।

(५) जिस अंशों के सम्बन्ध में जो प्रति अधिक प्रामाणिक प्रतीत हो उस अंश के लिए उसी प्रति का पाठ स्वीकार करना ।

(६) पाठ-सुधार करना ।

आधुनिक काल (सन् १९४१ ई० आज तक)

इस काल में भी पूर्वकालों की प्रवृत्तियाँ चल रही हैं और अनेक संपादक गण हठ वश अवैज्ञानिकता को अपनाए चले जा रहे हैं। इस प्रकार के पाठालोचन के सिद्धांतों का पूर्ण उपयोग न करते हुए अत्यंत श्रम से संपादित ग्रन्थ **केशव ग्रन्थावली** तथा मानस (काशिराज संस्करण) हैं। इनके संपादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हैं जिनका शुक्ल जी की पद्धति में विश्वास है। किन्तु यह काल महत्वपूर्ण इन संपादनों के कारण नहीं है। इसका महत्व इसमें है कि इस काल में हिन्दी में वैज्ञानिक संपादन की नींव रखी गई और इसके भव्य भवन का निर्माण भी द्रुतगति से प्रारम्भ हो गया। हिन्दी के जितने प्राचीन ग्रन्थों का वैज्ञानिक संपादन हो चुका है, उतना शायद ही किसी आधुनिक भारतीय भाषा के ग्रन्थों का हुआ हो। हिन्दी में वैज्ञानिक संपादन की नींव डालने का तथा हिन्दी के ग्रन्थों का वैज्ञानिक पद्धति पर संपादन करके उसको अत्यन्त उच्चावस्था तक पहुँचाने का एक मात्र श्रेय तुलसी विशेषज्ञ डॉ० माताप्रसाद गुप्त को है। सामग्री और साधन की कमी होते हुए भी मानस, पद्मावत, बीसलदेव रास, छिताई वार्ता, मधुमालती आदि का संपादन कर डॉ० गुप्त ने पाठालोचन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

इस काल का इतिहास डॉ० गुप्त और उनके शिष्यों के कार्यों का इतिहास है। अतएव उनके कार्यों की एक संक्षिप्त रूपरेखा दी जा रही है।

संपादन के क्षेत्र में डॉ० गुप्त का प्रथम कार्य "अर्द्धकथा" का संपादन है। यह संपादन केवल एक प्रति के आधार पर था। इसमें प्रतिलिपि की अशुद्धियों को शुद्ध करते हुए प्रति का पाठ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इसमें पूर्ण वैज्ञानिकता अपनाई गई है। बाद में इसकी आपको ६ प्रतियाँ प्राप्त हुई। इन प्रतियों के सम्बन्ध-निर्धारण के बाद आपने पाठ-निर्माण के सिद्धांतों को स्पष्ट किया है। उनका यह कार्य बीज-स्वरूप ही रहा तथा विद्वानों का ध्यान आकृष्ट न कर सका।

आपका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य मानस का संपादन है। इसके संपादन में आपने लगभग २० प्रतियों का उपयोग किया है। इन प्रतियों का पूर्ण विवरण, उनका सम्बन्ध-निर्धारण एवं पाठ-निर्माण आदि की समस्त सूचना आपने रामचरित मानस

का पाठ नामक दो भागों में प्रकाशित ग्रन्थ में दी है। यह कार्य अपने प्रकार का प्रथम और अनूठा कार्य था। इसमें उन्होंने प्रतियों की सूक्ष्म परीक्षा करके अनेक भ्रमों का निराकरण और जालों का उद्‌घाटन किया। आपने प्रतियों का सम्बन्ध-निर्धारण कर उनका शाखान्तर्गत वर्गीकरण किया और उनमें उपलब्ध पाठ-भेदों के विकास-क्रम को सुलझा कर यह स्पष्ट किया कि मानस में कवि ने चार बार स्वयं संशोधन किया और प्रत्येक बार के पाठ की स्वतन्त्र परंपराएँ प्रचलित हुईं। इसके उपरांत पाठालोचन के सिद्धांतों के अनुसार इन्होंने मानस का पाठ निर्मित किया।

मानस का यह संपादन हिन्दी के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना है, पर इसका स्पष्ट प्रभाव नहीं दृष्टिगोचर हुआ।

मौन साधक-रूप में डॉ० गुप्त का कार्य चलता रहा। सन् १९५१ से उनके निर्देशन में प्रयाग विश्वविद्यालय में एम. ए. के द्वितीय खण्ड में विशेष अध्ययन-रूप में पाठालोचन विषय की पढ़ाई प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व से ही उनके निर्देशन में श्री (अब डॉक्टर) पारसनाथ तिवारी ने कबीर ग्रन्थावली का संपादन डी. फिल. उपाधि के लिए विषय चुना। सन् १९५२ में उनकी जायसी ग्रन्थावली प्रकाशित हुई जिसका प्रभाव हिन्दी जगत् पर तत्क्षण पड़ा। कुछ लोगों ने इसका विशेष स्वागत किया और कुछ अपनी मान्य धारणाओं को इसके प्रखर प्रकाश में विनष्ट होते देखकर पहले भौचक्के हो गए और बाद में विरोध करने लगे। सब कुछ होते हुए भी आदर्श संपादन के रूप में इसने अपना स्थान बना लिया और यद्यपि इसके मार्ग पर चलने वाले अधिक नहीं हुए हैं किन्तु इसकी उत्कृष्टता और इस पद्धति की वैज्ञानिकता स्वीकृत हो चुकी है।

पद्मावत् के संपादन में डॉ० गुप्त ने १६ प्रतियाँ का उपयोग किया है तथा उनका प्रतिलिपि, प्रक्षेप और पाठान्तर सम्बन्ध निर्धारित कर मूल पाठ प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। पद्मावत के संपादन द्वारा आपने इसकी मूल प्रति की लिपि फारसी थी, इस भ्रम का निराकरण किया है, और ग्रियर्सन तथा शुक्ल द्वारा कथा के कुंजी वाले छंद की प्रक्षिप्त सिद्ध कर इसे अन्योक्ति-समासोक्ति के झमेले से बचा लिया है।

डॉ० गुप्त के अन्य संपादित ग्रन्थ बीसल देव रास, मधुमालती, छिताई वार्ता एवं पृथ्वीराज रासउ हैं।

डॉ० गुप्त के अतिरिक्त इस दिशा में दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर ग्रन्थावली का संपादन करके किया है। कबीर ग्रन्थावली की अनेकानेक परंपराएं हैं जिनमें यथेष्ट पाठ-भेद है। इसका संपादन कर आपने हिन्दी जगत का बड़ा उपकार किया है। अब तो कई विषयों पर (सूरसागर, देव, बिहारी) इस प्रकार का कार्य हो रहा है।

पाठालोचन का यही संक्षिप्त इतिहास है। इसके महत्त्व को हिन्दी जगत् पूर्णरूपेण अभी तक समझ नहीं सका है। यही कारण है कि आज भी सुसम्पादित प्रामाणिक पाठों के स्थान पर भ्रष्ट अप्रामाणिक पाठ विद्यालय-विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्वीकृत हैं। किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकती है। प्रकाश से सर्वदा आँखें मूँदी नहीं जा सकतीं। पाठालोचन का महत्त्व समझे जाने पर प्राचीन ग्रन्थों का पुनः संपादन होगा, और आश्चर्य नहीं कि वर्तमान भ्रष्ट ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हमारी आलोचनाएँ और मान्यताएँ तब खंडित हो जाएँ, और हिन्दी साहित्य का इतिहास पुनः नए सिरे से लिखना आवश्यक हो जाए।

परिशिष्ट

लिपि और लेखन सामग्री का इतिहास

लिपि और लेखन सामग्री का ज्ञान पाठालोचक के लिए अति आवश्यक है[1] क्योंकि संपादन में लिपि और लेखन सामग्री के आधार पर ही वह अपनी बहुत सी समस्याओं का समाधान कर मूल पाठ के अनुसन्धान में सक्षम होता है। यदि लिपि और लेखन सामग्री का समुचित ज्ञान पाठालोचक को नहीं है तो बहुत सम्भव है कि पाठ सम्पादन उसके लिए कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाए।

लेखन सामग्री और लिपि का सम्बन्ध समस्त लिखित साहित्य और उसके विकसित रूप से है अतः इसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, और चूंकि पाठ सम्पादन में पाठालोचक के सामने मूल ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में उपस्थित होते हैं, इस लिए लिपि और लेखन सामग्री का ज्ञान पाठालोचक के लिए और भी आवश्यक हो जाता है। सम्पादन में तो बहिर्साक्ष्य का मुख्य आधार ही लिपि और लेखन सामग्री है।

यदि किसी प्राचीन प्रतिका हमें समय निर्धारण करना है तो लिपि और लेखन सामग्री के आधार पर ही हम करते हैं। प्रायः प्रतिस्वामी अपनी प्रति को प्राचीनता का बाना पहनाने के लिए तिथि में परिवर्तन कर देते हैं। इस जालसाजी की पकड़ अत्यंत आवश्यक होती है, क्योंकि यदि तिथि का सही २ ज्ञान हमें नहीं है तो हम प्राचीनता के धोखे में प्रति को अधिक महत्त्व दे सकते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक जाल हुए हैं। उदाहरणार्थ मानस के अयोध्याकांड की श्रावण कुंज अयोध्या में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति है। यह प्रति सं० १६९१ की है किंतु जालसाजों ने इसकी तिथि में परिवर्तन कर इसे सं० १६६१ का रूप दे दिया है, इस भावन से प्रेरित होकर कि सं० १६६१ में तुलसीदास जीवित थे और उनके समय की प्रति होने से यह मूल प्रति (Autograph) हो जाएगी। प्रतिस्वामियों का यह भी कहना है कि इसमें जो संशोधन किए गए हैं वह लेखक कृत है। इस प्रकार इस प्रति को पूर्ण रूप से मूल प्रति का महत्त्व दिलाने का यत्न किया गया है। डा० माताप्रसाद

---

[1] "The study of pabography is of the greatest practical importance to textual criticism, to classical philology, to ancient and mediavel history and to other branches of historical science…" Alphbet ; Dringer. D. P. 18

गुप्त ने लिपि और लेखन सामग्री के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि यह प्रति मूलतः सं० १६६१ की और कवि की मृत्यु के बाद की है, अतः यह किसी प्रकार भी मूल प्रति का महत्त्व प्राप्त नहीं कर सकती है।

इसी प्रकार मानस की एक सं० १८६४ की प्रति है। इसे पीछे जालसाजों ने सं० १६६४ की प्रति बनाना चाहा है। इस जालसाजी के वही मूल प्रति के महत्व वाली भावना काम कर रही थी। डा० गुप्त ने इस जालसाजी की पकड़ भी लेखन सामग्री के आधार पर की और यह बताया कि सं० १६६४ के पहले ६ का अंक ८ को परिवर्तित कर बनाया गया है—(८>६) किंतु इस प्रकार अंक परिवर्तन करने से ८ के बड़े पेट में नीचे उसे ६ बनाने के लिए एक और पेट बढ़ाने के कारण ६ का आकार अन्यत्र आए हुए ६ से बड़ा हो गया है और यह अन्तर १६६४ में आए हुए दोनों ६ की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। फिर पहले ६ के नीचे भाग की स्याही अन्य अंकों की स्याही से भिन्न है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रति में जाल किया गया है।

इतना ही नहीं प्रति के कागज, लिपि, लेखन सामग्री और लिखने की शैली देखकर भी प्रायः प्रति की प्राचीनता का अनुमान लगाया जाता है कि प्रति कितनी प्राचीन है।

प्राचीन प्रति के पाठ को भी बिना लिपि जाने ठीक से नहीं पढ़ा जा सकता। लिपि में प्रायः परिवर्तन हुआ करता है। नई प्रति में भी कभी २ प्राचीन लिपि मिलती है। जैन राजस्थानी ग्रन्थों में इसकी परंपरा चली आ रही है। यदि प्राचीन लिपि हम नहीं जानते तो इन पोथियों को हम नहीं पढ़ सकेंगे।

पाठ-विकृतियों को समझाने के लिए भी आवश्यक है कि मूलादर्श से प्राप्त रूप के बीच के लिपि इतिहास तथा लेखन सामग्री के इतिहास को जाना जाए। प्रतिलिपि करते समय अधिकांश पाठ विकृतियाँ लिपि भ्रम के कारण ही होती हैं। प्रत्येक लिपि के वर्णों में भ्रम की सम्भावना होती है फिर यदि ऐसे ग्रन्थ से प्रतिलिपि की जाए जिसकी लिपि को प्रतिलिपिकार न जानता हो तो भ्रम होने की और भी अधिक संभावना रहती है। अपरिचितलिपि में यदि कुछ ऐसे अक्षर चिन्ह हों जो कि ज्ञात लिपि के अक्षर चिन्हों से मिलते जुलते हों (यद्यपि उनका उच्चारण भिन्न हो) तो स्वाभाविक है कि हम भ्रमवश अपनी ज्ञात लिपि के अक्षर इस स्थान पर रख दें। ऐसे ही भ्रम के कारण शारदा लिपि से अपरिचित लिपिकार ने १७८३ ई० की काश्मीरी पोथी (महाभारत) में गलती की थी। बीसलदेव रास की प्रति जो नरोत्तम स्वामी से डा० गुप्त को मिली थी उसमें भी पाठ विकृतियाँ प्रतिलिपिकार के प्राचीन राजस्थानी लिपि के यथेष्ट ज्ञान न होने के कारण ही हुई है, और प्रतिलिपिकार अनेक वर्णों और मात्राओं को गलत लिख गया है। अब ऐसी भूलों को पकड़ने के लिए आवश्यक है कि पाठालोचक को लिपि का पर्याप्त ज्ञान हो। पाठालोचक को लिपि

का उसके गुण और दोषों का सम्यक ज्ञान नहीं तो इस प्रकार की विकृतियों को जान सकना उसके लिए दुष्कर है।

इसी प्रकार लेखन शैली और वर्ण ध्वनियों का समुचित ज्ञान भी पाठालोचक के लिए आवश्यक है। प्राचीन काल में शब्द सटा २ कर लिखने की प्रथा थी। पहले एक लम्बी सी शिरोरेखा खींच ली जाती थी और तब उस पर लिखा जाता था जैसे आज भी बहुत से बनिए लिखते हैं। पदच्छेद कर शब्द नहीं लिखे जाते थे। इसी प्रकार पहले ष लिखा जाता था पर बाद में वह उच्चारण के कारण ख लिखा जाने लगा। इन सब विशेषताओं का ज्ञान भी पाठालोचक को होना चाहिए।

इस प्रकार सिद्ध है कि लिपि और लेखन सामग्री का ज्ञान पाठालोचक के लिए आवश्यक है और बिना इनके ज्ञान के मूल पाठ का अनुसंधान संभव नहीं है। लिपि और लेखन सामग्री के इतिहास हम दो विभागों में विभाजन कर अध्ययन कर सकते हैं।

(क) लिपि
(ख) लेखन सामग्री

लिपि की आवश्यकता और उसका आविष्कार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः समाज में रहने के लिए विचार विनिमय उसके लिए आवश्यक है। विचार विनिमय के द्वारा ही वह अपने सुख-दुख अपनी आशाओं-अभिलाषाओं के विषय में दूसरों को बताता है, अपनी आवश्यकताओं से दूसरों को परिचित करता और कराता है; विचार-विनिमय ही मनुष्य के जीवन का आधार हो जाता है। भयभीय होने पर विचार-विनिमय से ही वह सहायता की याचना करता है और दूसरों को दुखित या कष्ट में पड़ा देखकर विचार-विनिमय के आधार पर ही वह लोगों को सहानुभूति देता है। यह विचार विनिमय मनुष्य ने सबसे पहले संकेतों के आधार पर ही किया होगा। हाथ को मुँह के पास ले जाकर भूखे होने की, पैर पटक कर दाँत पीस कर क्रोध की तथा मुट्ठी बाँधकर और भौंहे चढ़ाकर आश्चर्य और विस्मय की सूचना लोगों को देता रहा होगा, किन्तु प्रत्येक बातों को संकेतों में व्यक्त कर सकने में अपने को असमर्थ पाकर उसने कुछ विशिष्ट ध्वनि-रूपों का निर्माण किया होगा जो उस मानव की भाषा कहलाई होगी पर उसने देखा होगा कि भाषा के माध्यम से वह निकट व्यक्तियों से तो विचार-विनिमय कर सकता है पर केवल भाषा के आधार पर ही दूरस्थ व्यक्तियों द्वारा विचार-विनिमय संभव नहीं है, इसलिए मानव ने लिपि का निर्माण किया होगा।

इसी प्रकार लिपि के अभाव में विचारराशि आगे आने वालों के लिए सुरक्षित नहीं रह सकती थी। इसलिए विचारराशि की सुरक्षा की दृष्टि से भी लिपि की आवश्यकता मानव को प्रतीत हुई होगी।

प्राचीन काल में धर्म, साहित्य तथा इतिहास का लिपि से उतना घनिष्ठ

सम्बन्ध नहीं था जितना आज है। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों और साहित्यिक ग्रन्थों की मौखिक परम्पराएँ चलती थीं। पीढ़ी पर पीढ़ी मौखिक रूप से चलता हुआ साहित्य इसी प्रकार सुरक्षित रहता था। किन्तु इस प्रकार मौखिक रूप में होने के कारण ये अनिश्चित रहते थे। इसलिए इन ग्रन्थों और साहित्यों को स्थिरता देने के विचार से भी लिपि का जन्म हुआ।

लिपि का विकास किस प्रकार हुआ सर्वप्रथम लिपि का मूल रूप क्या था और किस प्रकार परिवर्तन होते-होते वर्तमान लिपि का रूप बना, यह काफी विवादास्पद विषय है। पहके लोगों का विश्वास था कि लिपि के आविष्कारक ब्रह्मा हैं। 'ब्राह्मी लिपि का ब्रह्मा शब्द उनकी धारणा की पुष्टि भी करता था किन्तु आज का मानव दैविक उत्पत्ति पर आँख मूंद कर विश्वास नहीं कर लेता, वह क्रमिक रूपों को जानना चाहता है कि किस प्रकार एक रूप से दूसरे रूप का विकास हुआ। लिपि के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अनुसंधान कर लिपि की विभिन्न स्थितियों का पता लगाया है जिन पर हम संक्षेप में विचार करेंगे—

लिपि-विकास

लिपि-विकास पर विचार करने से पहले यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि लिपि वर्णमाला का पर्यायवाची नहीं है। लिपि वर्णमाला के अभाव में भी हो सकती है। यह रज्जु लिपि, रेखा लिपि, चित्रलिपि आदि की भाँति होगी। इन लिपियों का काल क्रमानुसार नीचे वर्णन किया जा रहा है।

(क) रज्जु लिपि अथवा ग्रन्थि लिपि—विद्वानों का विचार है कि रज्जु लिपि अर्थात् ग्रन्थिलिपि विश्व की आदि लिपि रही होगी। हिन्दी शब्द 'वर्षगांठ' तथा फारसी शब्द 'साल गिरह' का अर्थ वर्ष की गांठ है। अति प्राचीन काल से ही मनुष्यों की आयु याद रखने के लिए डोरे में गांठ लगाई जाती थी। आज भी कहीं कहीं डोरे में गांठ लगाकर व्यक्ति की आयु याद रखने की प्रथा है। यह प्रथा यह संकेत करती है कि अति प्राचीन काल से ही ग्रन्थि (गांठ) स्मरण का आधार रही होगी। लिपि विशेषज्ञों का विचार है कि एक समय ऐसा भी रहा होगा जब सूत अथवा रज्जु में छोटी बड़ी अनेक प्रकार की तथा अनेक रंग की गांठें लगाकर घटनाएं स्मरण रक्खी जाती रही होगी और पुस्तकों का भी यही स्वरूप रहा होगा। इतिहास से दक्षिण में इस प्रकार की लिपि का प्रचिलित होना सिद्ध होता है। उत्तरी अमरीका तथा चीन की भी सर्वप्रथम लिपि रज्जु लिपि ही थी। वहाँ साधारण बोलचाल के अतिरिक्त राजनीतिक तथा ऐतिहासिक घटनाएं भी इसी रज्जु लिपि में लिपिबद्ध होती थीं। एक रस्सी में बंधी हुई सूक्ष्म स्थुल तथा अन्य अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ विभिन्न भावों की प्रकाशिका थीं। उदाहरण स्वेत तागा चांदी अथवा शांति का लाल युद्ध अथवा स्वर्ण का द्योतक है। सम्भव है कि लिपि चिह्नों का नाम 'वर्ण' रस्सियों या डोरों के विभिन्न रंगों (वर्णो के आधार पर ही पड़ा होगा। पीरू में रज्जु लिपि

को 'क्लिपु' कहते हैं। पीरू की सर्वप्रथम पुस्तक इसी लिपि में है। यह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। अवधेय है कि रज्जु लिपि में ग्रन्थियाँ एक शब्द या एक मनोभाव की द्योतक नहीं वरन् पूर्ण वाक्य या विचार की द्योतक हैं।

(ख) रेखा लिपि—अनपढ़ तथा अशिक्षित लोग आज भी अंक पड़ी रेखाओं द्वारा लिखते हैं जैसे १, २, ३ लिखने के लिए —, =, ≡ चिह्न लिखेंगे। हिन्दी अंक इन्हीं रेखा-चिह्नों से विकसित हुए हैं। इसी प्रकार उर्दू १ २ ३ आदि खड़ी रेखाओं से विकसित हुए हैं। मण्ड लमतावलंबियों का मत है कि समस्त रेखा चिह्न मंडल '●' अर्थात् शून्य से निकले हैं। यह शून्य मानव मस्तिष्क केन्द्र की सेल्स (Cells) का प्रतिरूप है। अतः अंकों की उत्पत्ति रेखा चिह्नों से हुई है। विभिन्न भाषाओं में अंकों के कुछ रूप ऐसे हैं जो वर्णों से मिलते हैं। अतः अंकों की उत्पत्ति, ऐसा विद्वानों का मत है, संभवतः वर्णों से पूर्व हो चुकी थी। रेखालिपि किसी समय नियमित तथा सुसम्बद्ध लिपि थी। जब ग्रन्थलिपि से काम न चला होगा तो रेखालिपि का प्रचार हुआ होगा। अफ्रीका की कुछ जंगली जातियों में रेखालिपि का अभी भी प्रचार है। किन्तु एक बात ध्यान रखने योग्य है कि रेखालिपि से वर्णों की अपेक्षा अंकों की उद्भावना ही अधिक सरल है।

(ग) चित्रलिपि—चित्रों द्वारा भाव प्रकाशन रज्जु लिपि तथा रेखालिपि की तुलना में सरलतर है तथा भाव प्रकाशन में अधिक सक्षम भी है। प्रारम्भ में मनुष्यों ने चित्र द्वारा किसी वस्तु को बोध कराना सरल समझा होगा क्योंकि यह ढंग रज्जु अथवा रेखालिपि की तुलना में अधिक स्थूल है। जिस वस्तु का बोध कराना चाहा उसका चित्र बना दिया। प्राचीन समय के इस प्रकार के चित्र बड़ी संख्या में पत्थरों पर, पेड़ की छालों, ढोलों, सींग, हाथी दाँत चमड़े, पत्थर, हड्डी आदि पर बने मिलते हैं। प्रारम्भ में एक चित्र द्वारा संपूर्ण घटना का बोध होता था। इस प्रकार की घटना प्रकाशक लिपि अमरीका ने आदिवासियों में प्रचलित थी। कालान्तर में पृथक्-पृथक् वस्तुओं से उत्पन्न भावों के लिए एक-एक चित्र (Ideograph) होने लगे। ऐसी भाव बोधक लिपि मैक्सिकों तथा मिश्र के आदिवासियों में प्रचलित थी। इसके बाद मूर्त तथा अमूर्त पदार्थ के लिए एक-एक भाव चित्र प्रयुक्त होने लगे जैसे कि प्राचीन चित्रलिपि में दो मिले हुए हाथ मित्रता के द्योतक थे। बाद में यह चित्र संक्षिप्त हो गए इनमें परिवर्तन हुआ और ये केवल प्रतीक रूप में रह गए। जटिल भावों के द्योतक के लिए कई भावचित्र मिला लिये जाते थे। उदाहरणार्थ साधु = पर्वत पर रहने वाला मनुष्य। इसी प्रकार चित्रों का मेल होता रहा। विभिन्न जातियों में विभिन्न चिह्न विभिन्न भावों के द्योतक हैं। प्राचीन समय में यह अति व्यापक लिपि रही होगी क्योंकि इस लिपि द्वारा प्रत्येक स्थूल वस्तुओं का बोध कराना

सम्भव था। किन्तु चित्र लिपि में अनेक न्यूनताएँ भी थीं जो लिपि विकास का कारण बनीं। जैसे—व्यक्ति वाचक संज्ञाओं का बोध करने के लिए इसमें कोई साधन नहीं था। दूसरे स्थूल वस्तुओं का तो इस लिपि द्वारा प्रकाशन संभव था पर भावनाओं या अमूर्त वस्तुओं का बोध इस लिपि द्वारा संभव नहीं था। इसके साथ ही साथ इस लिपि में यह भी दोष था कि इसे लिखने में समय की बहुत अपेक्षा थी और शीघ्रतापूर्वक इस लिपि में नहीं लिखा जा सकता था।

(घ) भावमूलक लिपि—भावमूलक लिपि चित्रलिपि का ही विकसित रूप है चित्र लिपि में जहाँ एक चित्र किसी वस्तु विशेष का बोध करता था, वही भावमूलक लिपि में वही चित्र स्वसंबंधित भावों को भी व्यक्त करने वाला हो गया। उदाहरणार्थ जहाँ पहले चित्रलिपि में एक गोले का चित्र प्रकाश दिन आदि सूर्य संबंधित भावों का भी बोध कराने वाला हो गया। इसी प्रकार कान का चित्र केवल कान का ही बोधक न माना जाकर सुनने का भी बोधक माना जाने लगा। मीसोपोटामिया, मिश्र आदि भी लिपियाँ भावमूलक ही थीं।

(ङ) ध्वनिमूलक लिपि—भावमूलक लिपि के बाद ध्वनिमूलक लिपि की स्थिति आती है। भावमूलक लिपि तथा चित्रलिपि में जहाँ चित्र किसी वस्तु या भाव मात्र को प्रकट करते हैं, उस वस्तु या भाव के नाम से उनका सम्बन्ध नहीं होता वहीं ध्वनि मूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को व्यक्त न कर ध्वनि को व्यक्त करते हैं। इन व्यक्त ध्वनियों के आधार पर वस्तु या भाव का नाम लिखा जा सकता है। ध्वनि मूलक लिपि में ध्वनि और लिपि में अद्भुत साम्य हो गया। ध्वनि मूलक लिपि के दो भेद हैं—(१) अक्षरात्मक लिपि, (२) वर्णनात्मक लिपि।

अक्षरात्मक लिपि में चिह्न किसी प्रकार (Syllable) को व्यक्त करता है वर्ण को नहीं। नागरी अक्षरात्मक लिपि है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अक्षरात्मक लिपि भी पूर्ण नहीं मानी जाती है क्योंकि इसमें ध्वनियों का स्पष्ट विश्लेषण नहीं होता है। इस लिपि के अक्षरों में स्वर और व्यञ्जन की संयुक्त स्थिति रहती है। उदाहरणार्थ क या ख कहने पर क् और ख् के साथ जुड़े हुए अ स्वर का भी बोध होता है। स्वर और व्यञ्जन की संयुक्त स्थिति के कारण ही ध्वनि विश्लेषण इस लिपि में कठिन होता है। ध्वनि विश्लेषण की दृष्टि से वर्णात्मक लिपि आदर्श लिपि है। भाषा विज्ञान में भी यही वर्णात्मक लिपि आदर्श मानी जाती है। इसमें स्वर और व्यञ्जन अलग-अलग करके लिखे जाते हैं। विश्व की अधिकांश लिपियाँ वर्णात्मक लिपियाँ ही हैं। जर्मन, अंग्रेजी आदि सभी लिपियां वर्णात्मक ही हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि रज्जु लिपि और चित्र लिपि से किस प्रकार विकास होते-होते आज अक्षरात्मक और वर्णात्मक लिपियाँ बन गईं। धीरे-धीरे

ध्वनि मूलक चिह्नों में भी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। इन ध्वनि चिह्नों में परिवर्तन किन कारणों से हुआ इस पर हम विचार करेंगे।

ध्वनि चिह्नों में परिवर्तन के कारण

कागज के बनने के पहले कागज के स्थान पर भूर्जपत्र, ताड़पत्र, चमड़े, ताम्रपत्र आदि का उपयोग होता था और लिखने के लिए कलम के स्थान पर मजबूत लोहे की कीलों का उपयोग होता था। इन्हीं कीलों से भोजपत्र, ताड़पत्र आदि पर अक्षर कुरेदे जाते थे। कठोर वस्तुओं पर लोह से अक्षर कुरेदने के कारण अक्षरों की आकृति टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती थी। ज्यों-ज्यों अच्छी लेखनी तथा कागज आदि का प्रचार हुआ त्यों-त्यों वर्णों के रूप में भी हेर-फेर होता गया और रेखाएँ सीधी तथा सुन्दर होती गई।

ध्वनि चिह्नों में परिवर्तन का दूसरा कारण लिखने की रीति है। मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह जो कुछ लिखे शीघ्रता से लिखे, सुन्दर लिखे और सरलतया लिख ले। मानव की इस त्वरालेखन, सुन्दर और सरलतापूर्वक लिखने की प्रवृत्ति में लिपि चिह्नों में बहुत परिवर्तन किया है। शीघ्रता से लिखने में अक्षर के रूपों में परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि शीघ्रता पूर्वक लिखने में लेखनी नहीं उठाई जाती, और इससे अक्षर की रेखाएँ प्रायः विकृत हो जाती हैं और एक दूसरे से मिल जाती हैं। शिरोरेखा का लोप भी त्वचा लेखन प्रवृत्ति का ही परिणाम है। प्राचीन काल में वर्णों के ऊपर शिरोरेखा नहीं लगाई जाती थी किन्तु शिरोरेखा विहीन अक्षर सुन्दर नहीं लगते थे, वे कुरूप लगते थे। इस प्रकार अक्षर को सुन्दर रूप देने की दृष्टि से अक्षरों में ऊपर शिरोरेखा लगाई जाने लगी। सरलतापूर्वक लिखने की इच्छा भी परिवर्तन का कारण बनी है। दो वर्णों के लिए चिह्न का निर्माण सरलता के कारण ही किया गया था जैसे त्त, क्त, द्य, ज्य्, तर् के लिए क्रमशः त्त, क्त, द्य, ज्ञ, त्र् का निर्माण हुआ। इसा प्रकार वर्णों को सरल बनाने की प्रवृत्ति भी नए वर्णों के जन्म का कारण बनी हैं।

विभाषाओं के संसर्ग से भी नवीन ध्वनियों का आगमन होता है और उनके द्योतक नवीन चिह्न बन जाते हैं। फारसी तथा अंग्रेजी ध्वनियों के चिह्न इनके उदाहरण हैं।

लिपि विकास पर विचार करने के उपरांत आवश्यक है कि भारतवर्ष की लिपियों पर भी संक्षेप में विचार किया जाय, किन्तु इस विषय पर कहने से पूर्व आवश्यक है कि भारत में लिखने की या लेखन कला की प्राचीनता पर भी विवेचन हो क्योंकि आज यह प्रश्न काफी विवादास्पद बन गया है कि भारत में लेखन कला का आरम्भ कब हुआ। विदेशी विद्वानों का विचार है कि भारतवर्ष में लेखन कला

का ज्ञान बहुत बाद में हुआ, लेखन कला भारतीयों ने विदेशियों से सीखी, और भारतवासियों का विचार है कि भारत में लेखन कला का ज्ञान लोगों को अति प्राचीन काल से था और यहीं से विश्व में लेखन कला का प्रचार हुआ।

भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता

भारतवासियों का विचार है कि भारत में लिपि अति प्राचीन काल से थी और यहाँ की लिपि का स्वयं ब्रह्मा ने निर्माण किया था। भारतवासियों से ही विदेशियों ने लिपि सीखी और यहीं से विश्व भर में लिपि का प्रचार हुआ, किन्तु विदेशी विद्वान यह नहीं मानते कि भारत की लिपि आदि लिपि है। उनका विचार है कि भारत में लेखन कला का प्रचलन बहुत बाद में हुआ और भारतवासियों ने लिखना विदेशियों से सीखा। विदेशी विद्वान बर्नेल का विचार है कि "भारतवासियों ने फिनीशियन लोगों से लिखना सीखा और फिनीशियन अक्षरों का जिनसे दक्षिणी अशोक लिपि (ब्राह्मी) बनी, भारतवर्ष में ई० पूर्व ५०० से पहले प्रवेश नहीं हुआ था"। बूलर का विचार है कि भारत की प्राचीन लिपि का निर्माण सेमेटिक अक्षरों को लेकर हुआ और सेमेटिक अक्षरों का प्रवेश भारत में १००० ई० पू० के लगभग हुआ था। सिद्ध है कि बर्नेल और बूलर क्रमशः भारतवासियों का लेखन ज्ञान ई० पू० ५०० और ई० पू० १००० से प्रारम्भ मानते हैं। मैक्समूलर का कथन है कि पाणिनि की परिभाषा में एक भी शब्द ऐसा नही है जो यह सिद्ध कर सके कि लिखने की प्रणाली पहिले से थी। पाणिनि का समय मैक्समूलर ने चौथी शताब्दी ई० पू० माना है। सिद्ध है कि मैक्समूलर भी भारत में लिखने के प्रचार की प्रणाली का आरम्भ ई० २५० चौथी शताब्दी से पहले की नहीं की नहीं मानते। किन्तु ऐसी हमें पर्याप्त मात्रा में सामग्री प्राप्त होती है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उपरोक्त विदेशी विद्वानों के मत भ्रमपूर्ण है और भारत में लेखन कला अति प्राचीन काल से चली आ रही है, और न भारतीय लिपि का जन्म फिनिशियन अक्षरों से हुआ है, न सेमेटिक अक्षरों से। भारत में लेखक कला की प्राचीनता सिद्धि करने वाले साक्ष्यों को हम तीन वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

(१) ग्रन्थों के प्रमाण
(२) शिला लेख आदि
(३) अन्य सामग्री

ग्रंथों के प्रमाण—प्राचीन ग्रंथों में ऐसे अनेक समय और उद्धरण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि भारत में अति प्राचीन काल से ही लेखन कला का प्रचलन था। यह साक्ष्य निम्न है—

(१) बौद्ध शील ग्रन्थों (ई० पू० ४५०) में साधुओं को अक्खरिका खेलने का निषेध है। विनय पिटक में साधुओं को लिखना सीखने के लिए आदेश दिया गया है।

जातक कथाओं में भी राजकीय नियमों, दस्तावेज पुस्तक आदि के स्वर्ण पत्र पर खुदवाए जाने का उल्लेख है।

(२) महावग्ग में लिखना, पहाड़ा हिसाब का पाठशाला में पढ़ाया जाना लिखा है। ललित विस्तर में बुद्ध का चन्दन की पाटी पर सोने की कलम से लिख जाना कथित है।

(३) पौराणिक काल के ग्रन्थ, महाभारत, संस्कृति, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, आदि में लिखने का तथा लिखित पुस्तकों का अनेक बार उल्लेख हुआ है।

(४) पाणिनि की अष्टाध्यायी में लिपि, लिबि, लिपिकार शब्दों का उल्लेख है। पशुओं पर अंक बनाने की विधि का उल्लेख भी है। पाणिनि का समय मैक्समूलर से ई० पू० चौथी शताब्दी तथा गोल स्टकर ने बुद्ध के भी पूर्व माना है। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्त्ती गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन, भारद्वाज, गालब आदि ऋषियों का उल्लेख करते हुए उनके मतों को दिया है। पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरण यास्क ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों का उल्लेख किया है। गौरीशंकर हरिचन्द ओझा का मत है कि पाणिनि तथा यास्क द्वारा अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों के उल्लेख यह सिद्ध करते है कि पाणिनि तथा यास्क से बहुत पहले ही भारत में लेखन कला का प्रचार हो गया था, क्योंकि यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है कि पाणिनि तथा यास्क ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों के ग्रन्थ कंठस्थ कर, उन पर विचार किया होगा और व्याकरण तथा निरुक्त बनाया होगा। पाणिनि और यास्क को व्याकरण बनाना यह सिद्ध करता है कि उनके पूर्व के आचार्यों के ग्रन्थ लिखित रूप में रूप विद्यमान थे।

(५) छांदोग्य उपनिषद, ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में इस बात के प्रमाण है कि उस समय व्याकरण ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी। ओझा जी का मत है कि व्याकरण की रचना लेखन कला के अभाव में किसी प्रकार भी सम्भव ही नहीं है। व्याकरण की रचना लेखन कला की उन्नत दशा में ही होती है और इसके लिए भाषा का सारा साहित्य टटोलना पड़ता है तब कहीं जाकर व्याकरण की रचना सम्भव होती है। अतः छांदोग्य उपनिषद, ऐतरेय ब्राह्मण आदि के व्याकरण सम्बन्धी उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि इनके पहले ही भारत में अनेक लिखित ग्रन्थ थे।

(५) ऋग्वेद में अष्टकर्णी गऊ (जिसके कान पर ८ बना हो) का उल्लेख है। जिससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद काल में ही भारतवासी अंक लेखन से परिचित थे।

(६) बूलर का कथन है कि वैदिक समय में भी लिखित पुस्तकें मौखिक शिक्षा और दूसरे अवसरों पर सहायता के लिए काम में लाई जाती थीं।

(७) बोथलिंग का मत है साहित्य रचना के लिए अति प्राचीन काल से ही लेखन का उपयोग होता था, किंतु ग्रन्थ लिखकर, उसको रटकर और दूसरों को रटाकर लेखक लिखित ग्रन्थ को नष्ट कर देता था।

(८) राँथ का विचार है कि लिखने का प्रचार भारत में अति प्राचीन काल से ही था क्योंकि यदि वेद पुस्तक रूप में लिखित न होते तो कोई पुरुष प्रतिशाख्य न बना पाता।

शिला लेखों के प्रमाण

(१) भारत की जलवायु में भोजपत्र, ताड़पत्र कागज आदि हजारों वर्षों तक सुरक्षित नहीं रह सकते थे यही कारण है कि प्राचीन लेख आज हमें शिलाओं पर स्तम्भों पर या ताम्र पत्र आदि पर ही मिलते हैं। अशोक के लेख लगभग सारे भारतवर्ष में मिलते हैं और यह विभिन्न लिपियों में भी हैं। विभिन्न लिपियों में लेखों का होना यह सूचित करता है कि भारत में लेखन कला की अशोक के पूर्व ही एक सुदीर्घ परम्परा रही होगी।

(२) अशोक के पूर्व दो शिलालेख बर्ली (ई० पू० ४४३ ई०) तथा पिप्रावा (ई० पू० ४८७) से प्राप्त हुआ है यह ई० पू० पाँचवी शती में लेखन कला का प्रचार सिद्ध करते हैं।

(३) निआर्कस (ई० पू० ३२६), मेगस्थनीज (ई० पू० ३०६) ने लिखा है कि भारत में रूई कूटकर लिखने के लिए कागज बनाया जाता था। दूरी बताने के लिए मीलों पर लगे हुए पत्थरोंका जिन पर धर्मशालाकी दूरी अंकित रहती थी का भी उल्लेख मेगस्थनीज आदि विदेशियों ने किया है। यह उल्लेख सिद्ध करते हैं कि भारत में चौथी शताब्दी में लेखन कला का प्रचार हो गया था।

अन्य

(१) ह्वेनसांग ने भारत के ग्रन्थ दान माहात्म्य का वर्णन किया है। ह्वेनसांग को भी भारत में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ दान में दिए गए थे। भारत का ग्रन्थ दान माहात्म्य सूचित करता है कि भारत में लिखित ग्रन्थों की प्रचुरता ह्वेनसांग के समय में ही थी।

(२) भारत में अति प्राचीन काल में ही बड़े-बड़े सरस्वती भण्डार और पुस्तकालय थे जिनसे सिद्ध है कि भारत में लेखन कला का प्रचलन अति प्राचीन काल से ही था।

इस प्रकार ग्रन्थों के प्रमाण शिलालेखों के प्रमाण आदि से यह भली प्रकार सिद्ध होता है कि भारत में लेखक कला की प्रचलन अति प्राचीन काल में हो गया था और प्राचीन काल में ही लेखन कला में ही लेखन कला काफी विकसित भी हो चुकी थी। भारत में लेखन कला की प्राचीनता सिद्ध करने के उपरांत अब भारतवर्ष की लिपियों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

भारतवर्ष की लिपियाँ

भारतवर्ष की लिपियों का हम दो वर्गों में विभाजन कर अध्ययन कर सकते हैं—

(क) प्राचीन लिपि

(ख) वर्तमान लिपि

प्राचीन लिपि

(१) ब्राह्मी लिपि

(२) खरोष्ठी लिपि

(१) ब्राह्मी लिपि

उत्पत्ति—अशोक के लेखों तथा ई० पू० चौथी शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी तक भारत में दो लिपियाँ प्रचलित थीं। एक तो दाईं ओर से बांईं ओर लिखी जाती थी और एक दैशिक थी। दूसरी बांईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी और सार्वदैशिक थीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन लिपियों के नाम नहीं दिए गए हैं। किन्तु जनों के 'पन्नवणासूत्र' और 'समवायांगसूत्र में सबसे प्रथम बंभी (ब्राह्मी) लिपि और उसके बाद जवरमलि (यवनानि) का नाम मिलता है। १८ गिनाई गई लिपियों में यही दो प्रमुख हैं। 'भगवती सूत्र' और बौद्धों के ललितविस्तर में भी लिपियों में प्रथम नाम ब्राह्मी का तथा द्वितीय खरोष्ठी लिपि का मिलता है। बौद्ध विश्वकोश 'फायुअन चुलिन' में भी ललित विस्तर की ६४ लिपियों का नाम किया गया है जिनमें पहला ब्राह्मी तथा दूसरा खरोष्ठी है। ओझा जी का कहना है कि ब्राह्मी लिपि के इस देश की स्वतन्त्र और सार्वदेशिक लिपि होने से ही जैन और बौद्ध ग्रन्थ उसमें लिखे जाने लगे तथा लिपियों की नामावली में इसको सर्वप्रमुख स्थान भी दिया गया।

यूरोपीय विद्वानों ने विभिन्न विदेशी लिपियों से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानी है; इसका कारण यही था कि यूरोपीय विद्वान पहले ही मान चुके थे कि हिन्दू लोग लिखना नहीं जानते थे अतः उनके लिए यह आवश्यक था कि वे इस बात का अनुसन्धान करें कि ब्राह्मी लिपि स्वयं हिन्दुओं की खोज है अथवा वह दूसरों से ली गई। इस विषय पर विभिन्न विदेशी विद्वानों ने निम्न कई मत दिए—

(१) सिकन्दर के सम्पर्क में आने पर भारत वालों ने यूनानियों से अक्षर सीखे—अफ्रेड मूलर, प्रिन्सेप, सेनार्ट।

(२) ब्राह्मी की उत्पत्ति यूनानी अथवा फिनिशिअन लिपि से हुई है—विल्सन, कस्ट।

(३) यह अरमइक खरोष्ठी यूनानी के मिश्रण से ई० पू० ३२५ ई० में सिकंदर के सम्पर्क में आने के बाद बनी—टॅल्वे

(४) ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सेमेटिक लिपि से हुई—विलियम जोन्स, बेबर बेन्फी, पॉट, मैक्समूलर, ह्विटनी आदि।

(५) ब्राह्मी फिनीशियन अथवा मिश्र की लिपि से बनी—स्टिविन्सन

(६) ब्राह्मी असीरिया की 'कयूनीफार्म' लिपि से तथा किसी प्राचीन दक्षिणी सेमेटिक लिपि के द्वारा जिससे हिम अरंटिक लिपि निकली है, बनी है। डीके, क्लॉड।

(३) "ब्राह्मी लिपि किसी अज्ञात दक्षिणी समेटिक लिपि से निकली होगी। वास्तव में वह किस लिपि से निकली यह अब तक मालूम नहीं हुआ परन्तु ओमन या हंड्रमॉट या ओर्भज आदि के खण्डहरों में उस (मूल लिपि) का पता एक न एक दिन लगना सम्भव है।" आइजक टेलर

सन् १८६५ में बूलर ने 'भारतवर्ष की ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में बेबर के अनुकरण पर ब्राह्मण पर ब्राह्मी को समेटिक, फिनिशिअन तथा असीरियन अक्षरों से निकला सिद्ध करने की चेष्टा की है। डॉ० मॅक्डानल्ड ने भी इस मत को स्वीकार किया।

डॉ० डेविड्ज ने ब्राह्मी की उत्पत्ति सेमेटिक की पूर्वज लिपि से मानी है।

इस प्रकार कई एक यूरोपिअन विद्वान ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति का पता लगाने के लिए हिअरेटिक (मिश्र) कयूनीफार्म (असीरिया) फिनिसिअन, हिमि अरेटिक (सेबिअन), अरमइक और खरोष्ठी लिपि में से अपनी रुचि के अनुसार किसी एक की शरण लेते हैं। आइजक टेलर इनमें से किसी में भी ब्राह्मी लिपि से समानता न देख ओमन हंड्रमॉड या ओर्मज के खंडहरों में से किसी नई लिपि के मिलने की राह देख रहे हैं और डॉ० राइस डेविड्ज सेमेटिक लिपि की पूर्वज किसी अज्ञात लिपि का पता लगाकर उपर्युक्त भिन्न मतों के एकीकरण की आशा करते हैं।

यदि विदेशी विद्वानों द्वारा ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए खोजी गई लिपियों में से एक की भी ब्राह्मी लिपि थोड़ी भी वास्तविक समानता होती तो सर्वथा इतने भिन्न मत नही हो सकते थे। जिस लिपि में समानता पाई जाती उसी को सब स्वीकार कर लेते, परन्तु ऐसा न होना ही उपर्युक्त भिन्न-भिन्न कल्पनाओं का मूल हुआ जो साथ ही साथ उन कल्पनाओं में हठधर्मिता का होना भी प्रगट करता है।

यों तो दुनियां की किन्हीं दो लिपियों की वर्णमाला में समानता मिल सकती है किन्तु दो लिपियों के सम्बन्ध को निश्चित करने के लिए यह समानता वर्णमाला में ही नही वरन् उच्चारण में भी होनी चाहिए। इसी कसौटी पर हमें विभिन्न विदेशी विद्वानों के मत कसने हैं—

(क) मिश्र की 'हिअरेटिक लिपि' का एक भी अक्षर समान उच्चारण वाले ब्राह्मी अक्षर से नहीं मिलता।

(ख) असीरिया की क्यूनीफार्म लिपि चित्रलिपि है। उसके फिनीशिअन आदि सेमेटिक तथा ब्राह्मी लिपि का निकलना असम्भव है।

(ग) फिनिशिअन का एक अक्षर (गिमेल=ग) यूनानी के दो अक्षर (गामा =ग़, थीटा=थ) हिमिअरटिक का भी एक अक्षर विकृत करने पर (ग), अरमइक का भी यही एक अक्षर (ग) ब्राह्मी से मिलते हैं। खोरष्ठी का एक भी अक्षर ब्राह्मी से नहीं मिलता। बूलर ने जो अक्षरों का मेल बताया है वह तमाम उलट फेर से सिद्ध

किया गया है। कहीं उल्ट फेरों के द्वारा तो ब्राह्मी की उत्पत्ति अँग्रेजी तक से भी बताई जा सकती है।

बूलर - (फिनिशयन > ब्राह्मी)	ओझा - (अंग्रेजी > ब्राह्मी
१. अलिफ से 'अ' - K K K H	A = अ - A H H H
२. हेथ से घ - B B ш ш ш	B = ब - B B ◻
३. मेम से म - W W 8 8	C = च - e d d

इसी कारण डॉ॰ डेविड्ज ने कहा कि ब्राह्मी लिपि के अक्षर न तो उत्तरी और न दक्षिणी सेमेटिक अक्षरों से बने हैं। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का भी यही मत है।

म. म. गौरीशंकर हीराचन्द का कहना है कि ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों लिपियों का मूल फिनिशिअन लिपि को मानना किसी प्रकार भी तर्क संगत नहीं है क्योंकि यदि दोनों लिपियों का मूल एक ही लिपि होती तो दोनों लिपियों के एक दो अक्षरों में निश्चित ही समानता मिलती, किन्तु दोनों लिपियों में एक भी अक्षर की समानता न होना सिद्ध करता है कि दोनों लिपियों का मूल एक ही नहीं था। इसलिए ओझा का मत है कि खरोष्ठी सेमेटिक से निकली किन्तु ब्राह्मी सेमेटिक से नहीं।

बूलर का ब्राह्मी लिपि के विषय में एक महत्त्वपूर्ण कथन और है कि 'ब्राह्मी पहले दाहिनी ओर से बांई ओर लिखी जाती थी'। बूलर के इस मत का आधार ई॰ पू॰ ४५० के आसपास में 'एरण' से प्राप्त सिक्के हैं। इस सिक्के पर उत्कीर्ण ब्राह्मी का 'धर्मपालस' बांई ओर से दाहिनी ओर की जगह दाहिनी ओर से बांई ओर पढ़ा जाता है। पर बूलर का यह तर्क महत्वपूर्ण नहीं हैं। कारण स्पष्ट हैं। सिक्के बनाने के लिए ठप्पे बनते हैं और इन ठप्पों पर उल्टा खोदा जाता है। यदि खोदने वाला मूल से सीधा खोद गया तो ठप्पे पर उल्टा आ जाएगा। एरण के सिक्के के साथ भी यही हुआ है। ऐसी गलती के अन्य उदाहरण भी हैं—सातवाहनवंश के राजा शातकर्णी के सिक्के पर भी लेख उल्टा आ गया है। इसी प्रकार पार्थिअन अब्दगासिस के एक सिक्के पर का खरोष्ठी लेख खुद कर ब्राह्मी की तरह हो गया है। अभी संवत १९४३ के इंदोर के एक पैसे के सिक्के में भी यही हो गया था। अतः बूलर का यह तर्क प्रबल प्रमाणों पर आधारित नहीं माना जा सकता। डॉ॰ हुल्स और डॉ॰ फ्लीट ने इसी कारण से बूलर के तर्क को नहीं माना है।

अन्त में ब्राह्मी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों को देखते हुए निष्कर्ष रूप में पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत ही सर्वाधिक वैज्ञानिक लगता है, और जब तक इस सम्बन्ध में कोई अन्य प्रमाण न मिले तब तक ओझा जी का मत ही युक्ति-युक्त है। ओझा जी ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निष्कर्ष रूप में लिखते हैं—

"ब्राह्मी के न तो अक्षर फिनिशिअन या किसी अन्य लिपि से निकले हैं और न उसकी बांई ओर से दाहिनी ओर लिखने की प्रणाली किसी और लिपि से बदलकर बनाई गई है।

यह भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और संर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्म देवता माने जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा हो चाहे साक्षर ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो,[1] पर इसमें सन्देह नहीं कि इसका फिनिशिअन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

ब्राह्मनी लिपि आदर्श लिपि है इसमें आदर्श लिपि के समस्त गुण हैं। ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ निम्न हैं—

१. प्रत्येक उच्चारण के लिए एक ही चिह्न है। इस कारण ब्राह्मी लिपि में जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है और जो पढ़ा जाता है वही लिखा जाता है।

२. ब्राह्मी लिपि में स्वर तथा :व्यंजन पूरे हैं। स्वरों में ह्रस्व दीर्घ तथा अनुस्वार और विसर्ग के लिए भिन्न-भिन्न संकेत हैं।

३. व्यंजनों का क्रम उच्चारण स्थान के अनुसार अर्थात् वैज्ञानिक हैं।

४. व्यंजनों के साथ स्वरों के संयोग को मात्रा द्वारा प्रगट करना इसकी अपनी विशेषता है जोकि अन्य किसी भी लिपि में नहीं हैं।

ब्राह्मी लिपि और उससे अन्य लिपियों का विकास—ब्राह्मी भारतवर्ष की एक प्रति प्राचीन लिपि है। इस लिपि के प्राचीनतम लेख पिप्रावा के स्तूप तथा बर्ली गाँव से ई० पू० पाँचवी शताब्दी के मिले है। अशोक के शिलालेखों की समस्त लिपियों का उद्गम ब्राह्मी से ही हुआ है। अशोक के पूर्व के जैन 'समवायाँग सूत्र' में तथा उसके बाद के 'ललित विस्तार' में बहुत सी लिपियों के नाम हैं पर कालान्तर में उनका स्थान ब्राह्मी ने ले लिया। ओझा जी का विचार है कि ई० पू० ५०० तक के आस पास की लिपि की संज्ञा ब्राह्मी दी जा सकती है। ब्राह्मी से लिपि से निम्न लिपियों का विकास हुआ है।

(क) **गुप्त लिपि**—गुप्त सामाज्य के समय में प्रचलित और ब्राह्मी के परिवर्तित रूप को गुप्त लिपि की संज्ञा दी जाती है। इसका प्रचार ईसा की चौथी पाँचवी शताब्दी में था। इस समय के अक्षरों की आकृतियां गुप्त लिपि से मिलने लगी थीं।

(ख) **कुटिल लिपि**—गुप्त काल की ही परिवर्तित लिपि अक्षरों की विकृत (टेढ़ी मेढ़ी) आकृतियों के कारण कुटिल लिपि कहलाई। यह लिपि ईसा की छठवीं से लेकर नवीं शताब्दी तक भारत में प्रचलित रही। नागरी तथा शारदा लिपियाँ इसी से विकसित हुई है।

(ग) **नागरी लिपि**—उत्तर में इस लिपि का प्रचार ९ शताब्दी के अन्त से मिलता है परन्तु दक्षिण में इसका प्रचार आठवीं शताब्दी से ही पाया जाता है। दक्षिण के कई राजवंशों में इस प्रकार १६ वीं शताब्दी के पीछे तक मिलता है। दक्षिण में इसका नाम नंदि नागरी है। नागरी की पूर्वी शाखा से बंगला लिपि निकली हैं तथा पश्चिमी शाखा से कैथी महाजनी, राजस्थानी और गुजराती निकली है।

१. गौरीशंकर हीराचन्द ओझाः प्राचीन भारतीय लिपिमाला—पृ० २८-२९

(घ) शारदा लिपि—आठवीं शताब्दी के बाद कुटिल लिपि से शारदा लिपि का जन्म हुआ । इस लिपि के मुख्य क्षेत्र काश्मीर और पंजाब रहे हैं । इसी लिपि से वर्तमान काश्मीरी तथा टाकरी लिपियां निकली है और साथ ही साथ पंजाबी और गुरुमुखी के अधिकांश अक्षर भी इस लिपि के अक्षरों से मिलते हैं ।

(ङ) बंगला लिपि—यह भारतवर्ष के पूर्वी विभाग अर्थात् मगध की तरफ की नागरी लिपि से निकली है । इसी लिपि के लेखन शैली के परिवर्तन से वर्तमान बंगला लिपि बनी है । मैथिली और उड़िया लिपि का विकास भी प्राचीन बंगला लिपि से ही हुआ है ।

इन उपर्युक्त पाँच लिपियों को ओझा जी ने ब्राह्मी लिपि की उत्तरी शैली के अन्तर्गत आने वाली लिपियों में माना है दक्षिणी शैली के अन्तर्गत ओझा जी ने निम्न लिपियां मिली हैं जिनका विकास ब्राह्मी से ही हुआ है ।

(च) पश्चिमी—पांचवी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक इसका प्रचार था । इसका क्षेत्र काठियावाड़ नासिक हैदराबाद आदि था ।

(छ) मध्यदेशी—मध्यप्रदेश, हैदराबाद के उत्तरी भाग तथा बुन्देलखंड में पांचवीं शती से आठवीं शती तक इसका प्रचार था । इस लिपि के अक्षरों की आकृति गोलाकार न होकर चौखुटी है ।

(ज) तेलगु कनड़ी—पाँचवी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक बम्बई के दक्षिण शोलापुर बीजापुर तथा मद्रास प्रांत के पूर्वी भाग में इस लिपि की स्थिति थी । इसी से वर्तमान तेलगू और कन्नड़ी लिपि बनी ।

(झ) ग्रन्थ लिपि—सातवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक मद्रास प्रांत के उत्तर व दक्षिणी आर्कट त्रिचनापल्ली, मदुरा आदि में इस लिपि का प्रचलन था ।

(ञ) कलिंग लिपि—मध्य देशी लिपि से मिलती-जुलती यह लिपि है । सातवीं शताब्दी तक मद्रास प्रांत के कुछ भागों में यह प्रचलित थी । इस लिपि में बाद में ग्रन्थ तेलगू तथा कन्नड़ी आदि लिपियों का मिश्रण हुआ है ।

(ट) तामिल लिपि—इसके अनेक अक्षर ग्रंथलिपि से मिलते हैं मद्रास के पश्चिम मालाबार वाले भाग में सातवीं शताब्दी से ही इस लिपि के चिह्न मिलने लगते हैं ।

इस प्रकार समस्त भारतीय लिपियां ब्राह्मी से उत्पन्न हुई हैं पर आज इनमें इतना अंतर आ गया है कि आज कोई इस सत्य को स्वीकार नहीं करता । लिपियों के इतने विभिन्न रूप ग्रहण कर लेने के कारण निम्न हैं—

(१) अक्षरों को भिन्न प्रकार से सुन्दर बनने का प्रयत्न करना ।
(२) अक्षरों पर शिरोरेखा लगाना ।
(३) कलम को उठाए बिना अक्षर को पूरा लिखना ।
(४) शीघ्रता पूर्वक लिखना ।

खरोष्ठी लिपि

खरोष्ठी लिपि में प्राचीनतम लेख शाहबाज गढ़ी और मानसेरा की

चट्टानों पर खुदे हुए अशोक के शिलालेख रूप में मिलते हैं। अशोक के शिलालेख होने के कारण सिद्ध है कि ईसा पूर्व तीसरी शती में भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमाँत प्रदेश के आसपास अर्थात् पंजाब के गाँधार प्रदेश में रण का प्रचलन रहा होगा। अशोक के पूर्व के इरानियों के कुछ सिक्कों में खुदे हुए कुछ अक्षर खरोष्ठी लिपि के भी मिलते हैं जो सिद्ध करते हैं कि ई०पू० चौथी शताब्दी में भी खरोष्ठी की स्थिति थी।

खरोष्ठी लिपि के लेख केवल गांधार (विशेषकर तक्षशिला और चार सह्र सेमिले हैं। पंजाब के बाहर जिला वर्डक तथा हिड्ड (जलाला बाद के निकट) तथा मथुरा से मिले हैं। ब्राह्मीलिपि की तुलना में इसका प्रचार बहुत ही कम रहा होगा।

खरोष्ठी लिपि के नाम के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। चीनी विश्वकोश फ्रा-वान-शु-लिन के अनुसार खरोष्ठ नाम के आचार्य द्वारा निर्मित होने के कारण इस लिपि का नाम खरोष्ठी पड़ा है। कुछ लोगों का विचार है कि खरोष्ठ एक सीमा प्रान्त था नहीं की यह लिपि थी। राजबली पाण्डेय के अनुसार इसके अक्षर गदहे के ओठ के समान बेढंगे थे अतः इसका नाम खरोष्ठी पड़ा। इस प्रकार इस लिपि के नाम कारण के संबंध में विद्वान एक मत नहीं है।

अधिकाँश विद्वानों का मत है कि इस लिपिका मूल अरमरक लिपि है और यह भारतीय लिपि नहीं है। ओझा जी का कहना है कि "ईरानियों के राजत्व काल में उनके अधीन के हिन्दुस्तान के इलाकों में उनकी राजकीय लिपि अरमइक का प्रवेश हुआ उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ जैसे कि मुसलमानों के राज्य काल में फारसी लिपि का जो उनकी राजलिपि थी प्रवेश हुआ और उसमें कुछ वर्ण बढ़ाने से उर्दू लिपि बनी"[1] डिरिंजर, बूलर आदि सभी इस मत से सहमत हैं।

खरोष्ठी लिपि उर्दू की भांति पहले दांए से बाएँ को लिखीं जाती थी, पर बाद में संभवतः ब्राह्मी के प्रभाव के कारण बाएं से दाएँ लिखी जाने लगी। ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के कारण इसमें और भी संशोधन हुए थे। यह लिपि काम चलाउ लिपि थी और इसे लोग अनुमान से पढ़ते रहे होंगे। ईसा की तीसरी शताब्दी तक इस लिपि का प्रचार पंजाब के आस पास रहा जिसके बाद यह इस देश से सदा के लिए विलीन हो गई।

भारतवर्ष की मुख्य वर्त्तमान लिपियाँ

चूंकि दक्षिणी लिपियों उत्तरी भारत के ग्रंथों तथा लिपियों के संबंध में विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं इसलिए यहाँ हम दक्षिणी लिपियों पर विचार न कर, केवल उत्तरी भारत की प्रमुख वर्त्तमान लिपियों का विवेचन करेंगे। उत्तरी भारत की प्रमुख वर्त्तमान लिपियाँ निम्न हैं:—

---

१. गौरी शंकर हीराचंद ओझाः प्राचीन लिपि माला

(क) शारदा: काश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा के नाम पर इस लिपि का नाम शारदा लिपि पड़ा है। यह दसवीं शती की शारदा लिपि से बनी है। अब कश्मीर में इसका स्थान नागरी गुरूमुखी तथा टाकरी आदिलिपियाँ ले रही हैं।

(ख) टाकरी:—यह शारदा लिपि का घसीट रूप है। जम्मू तथा पंजाब के उत्तरी पहाड़ी प्रदेश इसका प्रचार है। इस लिपि का नाम टक्की तथा टक्री भी है। इस-लिपि में या तो स्वरों की मात्रा लगाई नहीं जाती अथवा मूल स्वर ही लिख दिए जाते हैं। हैं अतएव पढ़ने में यह काफी जटिल हो गई है।

(ग) गुरूमुखी:— पंजाब के महाजनों तथा अन्य मामूली पढ़े लिखे लोगों में पहले एक प्रकार की 'लंग' नाम की महाजनी प्रचलित थी। सिक्खों के धर्म ग्रंथ पहले इसी लिपि में लिखे जाते थे। सन् १५३८-५२ के बीच में गुरू अंगद ने अपने धर्म ग्रंथों की शुद्धता के लिए स्वरों की मात्रा वाली नई लिपि बनाई जिसमें कि वह 'गुरूमुखी' कहलाई इसके अधिकतर अक्षर शारदा लिपि से तथा अंक नागरी लिपि से लिए गए हैं। सिक्खों के धर्म ग्रंथ इसी लिपि में लिखे जाते हैं।

(घ) कैथी:—यह नागरी लिपि का किंचित परिवर्तित रूप है। कायस्थों ने त्वरालेखन के लिए नागरीलिपि से इसका निर्माण किया। संभवतः कायस्थों द्वारा निर्मित होने के कारण इस लिपि का नाम कैथी पड़ा। ऋ, ङ, ञ, ध्वनियाँ जिनका कि साधारणतः प्रयोग नहीं होता उसके लिपि चिह्न इसमें से हटा दिए गए हैं। व तथा ब में कोई अन्तर नहीं है। ब के नीचे बिन्दी लगाने में व अन्यथा ब पढ़ा जाएगा। इसलिपि के अ ख तथा झ नागरी से भिन्न है। पहले यह लिपि गुजराती की भांति लकीर खींचकर लिखी जाती थी परन्तु टाइप में सरलता के विचार से सिर सूचक मिटा दी गई। कैथी लिपि के तीन प्रकार हैं—मिथिला, मगध तथा भोजपुर की कैथी।

(ङ) नागरी:—यह मूलतः उत्तरी लिपि है और उत्तरी भारत में ९ वीं शताब्दी के अंतिम चरण से इसका प्रचलन हुआ है; किन्तु दक्षिण में कुछ स्थानों पर ८वी शती में भी मिलती है। दक्षिण में यह नंदिनागरी नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान देवनागरी, गुजराती महाजनी, राजस्थानी, महाराष्ठी, कैथी, मैथिली, बंगला आदि सभी लिपियों का विकास प्राचीन नागरीलिपि से ही हुआ है।

नागरी का वास्तविक अर्थ क्या है, और इस लिपि को नागरी लिपि क्यों कहा जाने लगा यह अनिश्चित है। डा० एल० डी० बार्नेट इसे नागाओं की लिपि मानते हैं किन्तु डिरिंजर का मत है कि नाग लिपि और देव नागरी लिपि में किसी प्रकार की भी समानता नहीं है। कुछ विद्वान गुजरात के नागर ब्राह्मणों की लिपि इसे मूलतः मानते हैं जिससे इसका नाम नागरी पड़ा। डिरिंजर का कहना है कि आज अधिकांश लोग नगरों में प्रचलित होने के कारण इसका नाम नागरी पड़ा। आज भी निश्चित

रूप से ठोस प्रमाण के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि देवनागरी लिपि का नाम देवनागरी क्यों पड़ा।

देवनागरी में लिखित साहित्य अन्य समस्त भारतीय लिपियों में लिखित साहित्य की अपेक्षा अधिक है परिमाण में भी और महत्व में भी। संस्कृत साहित्य तक देवनागरी लिपि में ही लिपिबद्ध है। देवनागरी अन्य भारतीय लिपियों की अपेक्षा तो अधिक वैज्ञानिक है ही, उर्दू तथा रोमन लिपि की तुलना में इसमें आदर्श लिपि के अधिक गुण पाए जाते हैं। देवनागरी आदर्श लिपि है और इसमें आदर्श लिपि के समस्त गुण पाए जाते है।

आदर्श लिपि की विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) ध्वनि विचार

(क) **निश्चय**—किसी लिपि के निश्चय होने के लिए यह आवश्यक है कि एक लिपि चिह्न से एक ही ध्वनि का बोध हो, अर्थात् जो लिखा जाय वही पढ़ा जाय।

रोमन लिपि में इस गुण का अभाव है। उसमें लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है। जैसे C=स, क—Pice, Cat; ch=च, क, श—Chair, Monareh, machine; g=ग, ज—Get, Page. देवनागरी लिपि में यह दोष नहीं है। १६ स्वर तथा ३३ व्यंजन के कारण एक लिपि चिह्न एक ही ध्वनि के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस कारण जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है।

(ख) **उपयोगिता**—किसी लिपि की उपयोगिता देखने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इसमें अव्याप्ति या अतिव्याप्त दोष तो नहीं है। उसमें आवश्यक ध्वनियों के घोतक चिह्नों का अभाव तथा एक ध्वनि के कई अनावश्यक चिह्न तो नहीं है।

रोमन लिपि इस दृष्टि से दोष पूर्ण है रोमन में ङ ञ ण ढ़ ड़ त द ख ज्ञ के लिए कोई चिह्न ही नहीं है। प्रसाद हमेशा प्रसाद ही लिखे जाएँगे। नागरी में प्रसाद हमेशा प्रसाद ही लिखे जाएँगे अव्याप्ति दोष भी रोमन लिपि में बहुत हैं। एक ध्वनि के लिए उसमें अनेक चिह्न हैं। फ=f, ph; द=th, d, क=e, k-q, ch, ck आदि चिह्न है। दक्षिण की प्रधान लिपि तमिल में अव्याप्ति दोष बहुत है। तमिल के प्रथम वर्ण देवनागरी के प्रथम द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ चारों वर्णो के द्योतक है। उदाहरण के लिए देवनागरी क ख ग घ चारों ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए केवल क ही चिह्न है। इसी प्रकार चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग चारों वर्गों के प्रथम-चतुर्थ वर्णों की ध्वनि का ज्ञान इन वर्णों के प्रथम वर्ण से ही होगा।

देवनागरी लिपि में यह दोष है कुछ वर्णों के लिए एकाधिक चिन्हों का प्रयोग

होता है किंतु अन्य लिपियों की तुलना में देवनागरी में यह दोष कम है। अरबी, फारसी अंग्रेजी आदि विदेशी ध्वनियां तक बहुत अंशों में देवनागरी चिह्नों से व्यक्त की जा सकती है। अरबी-फारसी, उर्दू आदि की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए क़ ख़ ग़ ज़ आदि नए चिह्न भी इसमें स्वीकार कर लिए गए हैं।

(२) रूपविचार

(क) सरलता—देवनागरी लिपि अत्यन्त सरल भी है। भारत की लिपियों में कोई भी लिपि देवनागरी लिपि की तुलना में लेखन की दृष्टि से अधिक सरल नहीं मानी जा सकती। रोमन लिपि सरल तो है पर कुछ वर्णों के मिलने से कठिनाई होती है। उदा० m u n इसके अतिरिक्त रोमन में छोटी, बड़ी, किताबी तथा छपाई चार प्रकार की वर्णमाला होती है। देवनागरी में रकाट लगाने में तथा ऋ की मात्रा में तथा र व ख में भ्रम की स्थिति है, पर रोमन की अपेक्षा सरल है।

(ख) सौन्दर्य—सिरबंदी लगाकर बहुत पहले से ही देवनागरी वर्णों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसी शिरोरेखा के कारण देवनागरी लिपि अन्य लिपियों की तुलना में सुन्दरतर है। बंगला सुन्दरलिपि है किन्तु इसमें त्वरालेखन और सरलता कम है।

(ग) त्वरालेखक—उर्दू, रोमन, गुजराती आदि लिपियों में बिना लेखनी उठाए त्वरित गति से लिखा जा सकता है। देवनागरी इनके समान त्वरित गति से नहीं लिखी जा सकती किन्तु यदि स्पष्टता का ध्यान रक्खा जाए तो देवनागरी इनसे शीघ्र लिखी जा सकती है। अन्य लिपियों में देवनागरी की अपेक्षा स्थान भी अधिक घिरता है। यह दोष रोमन में भी है उदा० कमल Kamala। देवनागरी के त्वरालेखन में शिरोरेखा बाधक होती है। शिरोरेखा हटाकर यह भी तीव्र गति से लिखी जा सकती है किन्तु इससे इसकी निश्चयात्मकता को धक्का लगेगा। अतः रूप विचार की दृष्टि से भी देवनागरी अन्य लिपियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

देवनागरी लिपि से इस प्रकार अनेक गुण हैं किन्तु इन गुणों के साथ ही साथ देवनागरी लिपि की कुछ कमियाँ भी हैं जिनसे भी हमें परिचित होना चाहिये। देवनागरी लिपि के दोष निम्न हैं—(क) वर्तमान उच्चारण की दृष्टि से देवनागरी के कुछ अक्षर व्यर्थ हैं: आज इनका उच्चारण हम नहीं करते या दूसरे अक्षर की तरह इनका उच्चारण करने लगे है। जैसे ऋ का उच्चारण रि, ष, का उच्चारण श अथवा ख करते हैं अतः ऋ, ष वर्णों की कोई आवश्यकता नहीं है।

(ख) ख में र, व, र व में ख तथा य और प में एक दूसरे के भ्रम होने की संभावना है। ख सम्बन्धी भ्रम को तो संशोधित देवनागरी में ख का रूप देकर दूर कर दिया गया किन्तु य और प संबंधी भ्रम अभी भी बना है।

(ग) देवनागरी लिपि अक्षरात्मक लिपि है वर्णनात्मक नहीं इसलिए शब्दों के लिखित रूप में सही सही ध्वनि विश्लेषण संभव नहीं है।

(घ) अक्षरों के दो रूप देवनागरी में प्रचलित हैं जैसे ल ल; अ अ; ण ण आदि। इनमें एक की ही स्थिति वैज्ञानिकता की दृष्टि से होनी चाहिए।

देवनागरी लिपि भारतवर्ष की सबसे अधिक प्रचलित लिपि है, राष्ट्र लिपि है और आज सबसे अधिक साहित्य इसी लिपि में लिपिबद्ध हो रहा है।

गुजराती—गुजरात में देवनागरी, गुजराती तथा सर्राफी तीन लिपियों का प्रयोग होता है। गुजराती प्राचीन नागरी से ही निकली है। यही कारण है कि यद्यपि आज गुजराती लिपि रूप में देवनागरी के भिन्न प्रतीत होती है। किन्तु फिर भी क्रम और ध्वनि रूप नागरी लिपि जैसा ही है

उड़िया—उड़िया भी प्राचीन नागरी से निकली है किन्तु इस पर दक्षिण की तेलगू तथा तमिल लिपियों का प्रभाव पड़ा है। कुछ लोग इसे प्राचीन बंगला लिपि से भी निकली मानते हैं। उड़िया लिपि के अक्षर गोलाकार हैं। इन अक्षरों के गोलाकार रूप लेने का कारण उड़ीसा की लेखन सामग्री है। उड़ीसा में प्राचीन समय में ताड़पत्र का लिखने के लिए उपयोग होता था इन ताड़ पत्रों पर लोहे के सूजे से अक्षर कुरेदे जाते थे। इस अक्षर के कुरेदने में यदि सीधे-सीधे कुरेदते थे तो पत्रों के फटने का डर रहता था इससे अक्षरों को गोलाकार रूप देकर लिखते थे। उड़िया लिपि का प्रयोग उड़ीसा की जनता आज भी साहित्य रचना में करती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन में हमने लिपि विकास, भारत की प्राचीन लिपियों, भारत की वर्तमान लिपियों और उनकी विशेषताओं पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है। अब संक्षेप में भारतीय लेखन-सामग्री पर विचार करेंगे।

लेखन सामग्री को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(क) आधार सामग्री

(ख) साधन सामग्री

(क) आधार सामग्री—लेखन की आधार सामग्री वह है जिस पर लिखा जाता है—अर्थात् कागज, भोजपत्र, ताड़पत्र, कपड़ा आदि भारत वर्ष में लेखन सामग्री के अन्तर्गत निम्नलिखित सामग्री आती है—

१. भूर्जपत्र (भोजपत्र)

'भूर्ज' नामक हिमालय के एक वृक्ष की यह भीतरी छाल है। सस्ता तथा सुलभ होने के कारण इसका बहुतायत से प्रयोग होता रहा है। अति प्राचीन काल से ही भूर्जपत्र का लिखने के लिए उपयोग होता था। कविवर कालिदास तक ने हिमालय की महिमा वर्णन के प्रसंग में बताया है कि विद्याधर सुन्दरियाँ भोजपत्र पर धातु रस से अपने प्रेमियों के पास पत्र लिखा करती थी जिनके अक्षर हाथी की सूंड पर मिलने वाले बिन्दुओं के समान सुन्दर होते थे।'

न्यस्ताक्षराधातुरसे न यत्र, भूर्जत्वचः कुञ्जर बिन्दु शोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनंक लेखक्रिय योपयोगम् ॥
कुमारसंभव १.७

राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में कवि के उपकरणों का वर्णन करते हुए भोजपत्र तथा ताड़पत्र का उल्लेख किया है।

भोजपत्र के उपयोग के विषय में अलबेरूनी भी लिखता है। भोज पत्र के बड़े-बड़े टुकड़े लेकर उनको तेल द्वारा मजबूत तथा घोटकर चिकना बनाया जाता था। फिर पुस्तक के आकार रूप में इन्हें काट लिया जाता था। ताड़पत्र की ही भांति लकड़ी की पट्टियों के बीच मैंडोरी से बाँधकर यह भी रक्खा जाता था। मुगलों के समय से भोजपत्र की पुस्तकों पर चमड़े की जिल्द भी चढ़ाई जाने लगी थी। कागजों के प्रचार से अब इसका प्रयोग प्रायः नहीं ही होता है केवल पूजा पाठ तंत्र मंत्र में इसका उपयोग होता है।

भोजपत्र पर लिखी पुस्तकें विशेषतया काश्मीर में तथा कुछ उड़ीसा में भी मिलती हैं। इसकी सबसे प्राचीन प्राप्त पुस्तक खोतान से प्राप्त खरोष्ठी लिपि 'धम्मपद' के प्राकृत में कुछ अश है। इस लेख का समय ई० दूसरी शताब्दी के निकट है। इसके अतिरिक्त संस्कृत सपुक्तागम सूत्र चौथी शताब्दी तथा अंकगणित अठवीं शताब्दी के मिलते हैं।

(२) ताड़-पत्र—भूर्जपत्र की पुस्तकें मुख्य रूप से कश्मीर में ही मिलती हैं। कश्मीर और उत्तरी प्रदेशों के सिवा अन्यत्र भूजपत्र की पोथियों का बहुत अधिक प्रचार नहीं था। मैदानों में ताड़ पत्र अधिक उपलब्ध ये और वे भोजपत्र की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सस्ते भी थे। इसलिए ही इनका प्रयोग मैदानों में अधिक होता था।

ताड़ पत्र, ताड़ वक्ष की दो भिन्न-जातियों के पत्ते होते हैं। दक्षिण तथा समुद्र तट पर यह बहुतायत से पाए जाते हैं। यह टिकाऊ तथा सस्ते होते हैं। ताड़ पत्र बड़े २ होते हैं। इन्हें सन्धियों में से लम्बे काटकर पर चौड़ाई में एक से चार इंच तक की पट्टियाँ निकाल ली जाती हैं। पत्रों की लम्बाई इच्छानुसार रक्खी जाती है। इन ताड़ पत्रों को पुस्तक लिखने के काम में लाने के पहुले सुखाते थे फिर पानी में उबालते या भिगोकर रखते थे। भीगने के बाद उनको फिर सुखाकर शंख, कौड़े या चिकने पत्थर से घोटते थे। ऐसे पत्र टिकाऊ होते थे। मामूली कार्यों के लिए बनाए गए पत्रों की विधि इकहरी होती थी। कश्मीर तथा पंजाब को छोड़कर इसका प्रचार सारे भारतवर्ष में था। पश्चिमी भारत वाले इन पत्रों पर स्याही से लिखते थे, परंतु दक्षिण वाले तीखे गोल मुख की शलाका को ऊपर दबाकर अक्षर कुरेदते थे; फिर

पत्रों पर काजल फिराकर अक्षरों को काला बना लेते थे। कम लम्बाई वाले पत्रों के बीच में तथा अधिक लम्बे पत्रों के दोनों ओर छेदकर दो लकड़ी की पट्टियों के बीच में, जिनमें भी उसी स्थान पर छेद रहते थे, रखकर बांध देते थे। पढ़ने के समय डोरी को ढीलाकर पत्रों को पढ़ा जाता था। ताड़ पत्र दक्षिण में वहाँ की नम जलवायु के कारण अधिक नहीं ठहर सकते हैं, वह शीघ्र ही खराब हो जाते थे।

ताड़ पत्रों का इतिहास बहुत पुराना है। जातक कथाओं में उल्लिखित 'पराण' ताड़पत्र के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। ह्वेनसांग के जीवन चरित्र से पता चलता है कि बुद्ध-निर्माण के वर्ण एकत्रित सघ में बौद्धों का 'त्रिपिटक' ताड़ पत्रों पर ही लिखा गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में ताड़ पत्र पर लिखने की दक्षिणी शैली उत्तर में भी प्रचलित थी क्योंकि लिख् धातु का मूल अर्थ कुरचना होता है।

संस्कृत का 'ग्रन्थ' शब्द भी पुस्तकों का ताड़पत्र पर लिखना सूचित करते हैं। इसके अतिरिक्त वृक्षों के विभाजन के आधार पर ही ग्रन्थों का स्कंध, कांड, शाखा आदि विभागों में विभाजन होता था।

कागज के प्रचार के साथ-साथ लिखने के लिए ताड़ पत्रों का प्रयोग बन्द हो गया है, केवल धार्मिक कृत्यों में ही कहीं २ यह प्रयुक्त होता है।

अब तक प्राप्त सबसे प्राचीन ताम्र पत्र ईसा की दूसरी शताब्दी का है यह एक नाटक का खंडित अंश है। इसके अतिरिक्त ४थी, ६ठी, ८वीं, १०वीं शताब्दी तथा बाद के ताड़पत्र पर ग्रन्थ मिलते हैं। दक्षिण शैलो पर खुरचे हुए ग्रन्थ १५वीं शताब्दी के पूर्व के नहीं मिलते। सम्भवतः दक्षिण की नम जलवायु इसका कारण है।

(३) **कागज**—साधारणतः कागज के आविष्कार का श्रेय चीन वालों को दिया जाता है कि उन्होंने १०५ ई० में इसका निर्माण किया, किंतु इससे ४३२ वर्ष पूर्व ई० पू० ३२७ में निआर्कस जो सिकदर के साथ आया था लिखता है कि 'हिंदु-स्तान के लोग रुई को कूटकर लिखने के लिए कागज बनाते हैं।' इस साक्ष्य के आधार पर मैक्समूलर ने भारतीयों को कागज का आविष्कारक माना है। बूलर ने निआर्कस के कथन को ठीक न समझ रुई से कागज के स्थान पर 'पट' का निर्माण माना है जो कि भ्रामक है। किन्तु भारत में कागज का अधिक प्रचार था। इसका कारण ऐसे बने कागजों का मंहगापन तथा ताड़ पत्र और भोजपत्र की बहुतायत और सस्तापन है। योरप के बने सस्ते और सुन्दर कागज के प्रचार के पहले भी यहाँ कागज बनाने के कारखाने थे पर इनका कागज चिकना नहीं होता था। फलस्वरूप इस पर पक्की स्याही फैल जाती थी। इसलिए उन पर लिखने के पूर्व आटे या चावल की लेई लगाकर सुखा लेते थे। सूखने पर घोटकर उनको चिकना करते थे। तब उन्हें

काम में लाया जाता था। जैन लेखक ने ताड़पत्र की पुस्तकों की ही भाँति इनके बीच
में भी डोरा डालकर पिरोते थे और यदि डोरा नहीं पिरोते थे तो खाली जगह में
देवता आदि की तस्वीर बनाते थे।

भारत की जलवायु कागज के लिए अच्छी नहीं है इसलिए कागज पर लिखी
प्राचीन पुस्तकें आज उपलब्ध नहीं हैं। कागज पर लिखी सबसे पुरानी पुस्तक जो इस
देश में मिली है वह सन १२२३-१२२४ की है, किंतु मध्य एशिया में 'कुत्रिअर' स्थान
से गुप्तलिपि में चार पुस्तकें तथा काशकर से प्राप्त कुछ पुस्तकें पाँचवीं शताब्दी
की हैं।

(४) रुई का कपड़ा—रुई से बने हुए कपड़े को पट कहते हैं। प्राचीन काल
से ही यह लिखने के काम आता था। कागजों की भांति लेई लगाकर इसे भी लिखने
के योग्य बनाया जाता है। जैन उत्सवों तथा मन्दिर प्रतिष्ठा के अनेक चित्र इन पटों
पर सुरक्षित हैं। राजपूताने में 'मण्डली' या 'गुरड़' लोग लम्बे २ खरडों पर लिखे
पंचांक रखते हैं जिनमें चित्र भी रहते हैं। मैसूर में कपड़े पर इमली की गुठली की
लेई लगाकर लिखने की बही बनाते हैं जिसको 'कडितम' कहते हैं। शृंगेरी मठ में
ऐसी अनेक बहियाँ हैं। पट पर पुस्तकें कम लिखी जाती थीं। उनका केवल एक उदा-
हरण पाटण के जैन पुस्तक भंडार में श्री प्रभसूरिरचित 'धर्मविधि' नामक पुस्तक है।
यह १३×५ इन्च के कपड़े के ९३ पृष्ठों में है।

(५) लकड़ी का पाटा या पाटी—स्लेटों के प्रचार के पहले विद्यार्थी वर्ग में
पाट का बहुत प्रचार था। पाटों पर मुल्तानी मिट्टी या खड़िया पोतकर सुखा देते थे
फिर उन पर ईंटों की सुर्खी बिछाकर तीखे गोल मुख की लकड़ी की कलम से लिखते
थे। ज्योतिषी लोग अब भी अक्सर इसका प्रयोग करते हैं।

लकड़ी की पतली पाटी पर लिखने का उल्लेख जातक कथाओं में मिलता है।
अब भी म्यूनिसिपेलटी स्कूल के लड़के पाटी (तख्ती) का उपयोग करते हैं। वे उस पर
का लिख लगाकर घोटते हैं और खड़िया से सरकडे की कलम द्वारा लिखते हैं।

(६) रेशमी कपड़ा—रेशमी कपड़ा लिखने के लिए प्रयुक्त होता था पर मँहगे
होने के कारण काम में कम आता था। अलबेरुनी ने नगरकोट के किले में रेशमी
कपड़े पर वंशावली का लिखा होना सुना था। डा० बूलर को जेसलमेर से एक रेशमी
कपड़े का टुकड़ा मिला था जिसमें जैन सूत्रों की सूची थी।

(७) चमड़ा—विदेश में लिखने के लिए जानवरों के चमड़े का भी प्रयोग
होता रहा है, पर भारत में अपवित्र समझे जाने के कारण इसका प्रयोग कम हुआ,
यद्यपि जातक में लिखने की सामग्री में चमड़ा भी गिनाया गया है। सुबन्धु ने अपनी

'वासवदत्ता' में एक उपमा चमड़े पर लिखे अंक से दी है। बूलर को जैसलमेर से एक चर्म पत्र भी मिलता है।

(८) पत्थर—लेख को या घटना को चिरस्थाई रखने के लिए उन्हें पत्थरों पर खुदवाया जाता था। यह लेख चट्टान, स्तम्भ शिला तथा मूर्ति आसन पर खोदे जाते थे। लेख खोदने के पहले पत्थर चिकना किया जाता था, फिर सूत की डोरी से निशान डालकर शिल्पकार अक्षर खोदता था। लेखों के चारों ओर हाशिए बने रहते थे। शिलालेखों के आदि में मंगल सूचक संकेत या शब्द आदि रहते हैं। शिलालेख सटाकर बिना शब्दों का विभाजन किए लिखे जाते थे। विराम चिन्हों के लिए एक या दो दंडों का प्रयोग होता था। छूटा शब्द हाशिए पर खोदा जाता था और उसका स्थान बताने के लिए ∧ या × चिन्ह प्रयुक्त होता था। इसे 'काकपद' या 'हंसपद' कहते हैं। इन लेखों में रचयिता, लेखक, शिल्पी का नाम सं० आदि दिए रहते थे। ये लेख प्राकृत, संस्कृत कन्नड़, तेलगू तथा प्राचीन हिंदी आदि सभी में प्राप्त हैं। पुस्तकें भी प्राचीन समय में चट्टानों पर खुदवाई जाती थीं। मेवाड़ में 'उन्नत शिखर पुराण ऐसी ही पुस्तक है जो पत्थर पर खुदी है। इस प्रकार की पुस्तकों के और भी कई उदाहरण हैं।

(९) ईंट—बौद्ध लोग ईंटों पर भी धर्म सूत्र आदि खुदवाते थे। यह ईसा पूर्व पहली शताब्दी के प्राप्त हैं। गोरखपुर के जोपालपुर गांव से भी ऐसी ईंटें मिली हैं। इनकी लम्बाई ११॥ × ९॥ इन्च से लेकर $४\frac{३}{४} \times ४\frac{१}{२}$ इन्च तक की मिलती हैं। ये लेख पहले कच्ची ईंटों पर खोदे जाते थे और बाद में इन ईंटों को पकाया जाता था।

ईंटों के अतिरिक्त मिट्टी के पात्रों पर भी लेख तथा स्त्री पुरुषों की मुद्राओं की आकृतियां भी मिलती हैं।

(१०) सोना—धर्मनियम अथवा राजकीय आज्ञाएँ सोने पर भी खुदी मिलत है। तक्षशिला के गंगू स्तूप से खरोष्ठी का तथा बर्मा से पांचवी शती के स्वर्ण पत्र मिले हैं।

(११) चांदी—तक्षशिला से चांदी के पत्रों पर भी खुदे हुए लेख मिले हैं।

(१२) ताँबा–लेखन सामग्री के रूप में प्राचीन भारत में ताम्रपत्र का बहुतअधिक उपयोग हुआ है। राजाओं के दान आदि सभी ताम्रपत्र पर भी ही दिए गए हैं। दान पत्रों की रचना आमात्य, संधिविग्रहिक, बलाधिकृत, अक्षपटलिक (अर्थमंत्री) आदि अधिकारी वर्ग के लोग या तो स्वयं करते थे या किसी विद्वान से कराते थे। ये ताम्र पत्र या तो रेखा रूप में खोदे जाते थे अथवा बिंदु रूप में। उत्तरी भारत के ताम्रलेख बहुधा एक या दो पत्रों पर ही खुदे मिलते हैं। (विजयनगर के वेंकटपति देव महाराय

का मदुरा प्राप्त शक सं० १५०८ (ई० १५८६) का लेख ९ ताम्रपत्रों पत्रों पर है। इस प्रकार के दान पत्रों के हाशिए पर कभी २ उनका पत्रांक भी खुदा रहता है। ताँबे की कड़ियों से यह एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। इन पर राजमुद्रा या राजा के हस्ताक्षर भी खुदे रहते थे। इन ताम्रपत्रों की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई भिन्न २ होती थी और यह पत्र ताँबे के पाट को कूट २ कर बनाए जाते थे। आज के ताम्रपत्र चद्दरों को काट कर बनाए जाते हैं। इन पत्रों पर लेख खोदते समय हाशिया भी छोड़ा जाता था। ताम्रपत्रों पर कभी २ पुस्तकें भी खुदवाई जाती थीं।

(१३) पीतल—जैन मंदिरों की पीतल की मूर्तियों पर भी खुदे हुए लेख ७वीं से १९वीं शताब्दी तक के मिलते हैं।

(१४) कांसा—मन्दिरों में कांसों के घण्टों पर भी दानदाता का नाम खुदा रहता है।

(१५) लोहा—दिल्ली का लौह स्तंभ ५वीं शताब्दी ईसवी का है। उस पर राजा चन्द्र का लेख है तथा आबू के अचलेश्वर के मन्दिर में, लोहे की त्रिशूल पर १५वीं शताब्दी का लेख है। तोपों आदि पर भी लेख खुदे मिलते हैं।

(ख) साधन सामग्री—साधन सामग्री में उस सामग्री की गणना होगी जिससे लिखा जाता है अर्थात लिखने में जो साधन का काम देती है। जैसे स्याही, कलम आदि। प्राचीन काल में लेखन के लिए भारत में निम्नलिखित साधन सामग्री का होता था।

(१) स्याही—कागज पत्र लिखने की स्याही दो प्रकार की होती है—कच्ची तथा पक्की। पुस्तकें पक्की स्याही से लिखी जाती है। पक्की स्याही बनाने की विधि यह है कि पीपल के वृक्ष की लाख पीसकर मिट्टी की हँडिया में पानी के साथ आग पर चढ़ा दे फिर उसमें सुहागा और लोध पीसकर डाले। जब उबलते २ लाख का रस पानी में यहाँ तक मिल जाए कि कागज पर उससे गहरी लाल लकीर बनने लगे तब उसे उतार कर छान ले। इसे आलता या अलम्तक कहते हैं इसके बाद तिल के तेल के दीपक के काजल को महीन कपड़े की पोटली में रखकर आलता में उसे भिरावे जब तक कि उससे सुन्दर काले अक्षर न बनने लगें। यही पक्की स्याही है।

कच्ची स्याही काजल, कत्था, बीजाबोर और गोंद मिलाकर बनायी जाती है। यह स्याही जल गिराने से फैल जाती है तथा वर्षाकाल में इस स्याही से लिखे गए पत्रे चिपक जाते हैं। अतः पुस्तक लेखन में कच्ची स्याही का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता था।

भोजपत्र पर लिखने की स्याही बादाम के छिलके के कोयले को गोमूत्र में

उबालकर बनाते हैं। चूंकि भोजपत्र सूखे में खराब हो जाते हैं इसलिए उन्हें पानी में रखते हैं। यह स्याही पानी में न फैलती है न हल्की पड़ती है।

काली स्याही से लिखे हुए सबसे पुराने अक्षर ई० पू० तीसरी शताब्दी के मिलते हैं।

रंगीन स्याही—लाल स्याही अल्ता अथवा हिंगुल को गोंद के पानी घोलकर बनाई जाती हैं। सूखे हरे रंग के गोंद को पानी में घोलकर हरी, तथा हरताल से पीव स्याही बनाई जाती है।

सोने चांदी का स्याही—सोने और चांदी के वर्कों को घोटकर रह बनती है। इस स्याही से लिखने के लिए सफेद पत्रों को पहले काले या लाल रंग से रंग लेते हैं फिर कलम से उन पर लिखकर कौड़े से उसे घोटते हैं तब अक्षर चमकीले निकल आते हैं। सोने चांदी की स्याही का चित्रकार लोग विशेष उपयोग करते हैं।

(२) **कलम**—प्राचीनकाल में लकड़ी के पाटे पर, लकड़ी के गोल तीखे मुँह की कलम (वर्णक) से मिलते थे। स्याही से पुस्तकें लिखने के लिए नड या बांस की कलमें काम में आती थीं। अजंता के लेख बुश (र्वतिका) से लिखे गये होंगे। दक्षिण भारत में लिखने के लिए लोहे की तीखे जोल मुख की कलम (शलाका) काम में आती था। कोई २ ज्योतिषी जन्मपत्र और वर्णफल के खरडों के लंबे हाशिए तथा आड़ी लकीरें बनाने के लिए लोहे के कलम अब भी काम में लाते हैं जिसके ऊपर का भाग जोल तथा नीचे का परकार जैसा होता है।

(३) **परकार**—पुरानी पुस्तकों में कमल आदि के चित्र बने हुए मिलते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि कमल आदि चित्रों के बनाने के लिए लेखक परकार आदि का प्रयोग करते रहे होंगे।

(४) **कांबी (रूप या पटरी)**—आजकल स्याही की लकीरें गोल रूल से खींची जाती हैं या पटरी से। प्राचीन काल में लकीरें खींचने के लिए गज (गज) जैसी चपटी पट्टी काम में आती थी जिसके ऊपर और नीचे के एक तरफ का किनारा बाहर निकला रहता था। राजपूताने में इस प्रकार की चपटी पट्टी को कोबी कहते हैं। स्याही की लकीरें खींचने के लिए यह बहुत अच्छी होती है क्योंकि स्याही से लकीर खींचते समय कोबी में स्याही लग जाने पर भी कागज आदि खराब न होता जैसा कि यदि रूल में स्याही न पोंछी जाए तो प्राय हो जाता है।

(५) **रेखापाटी**—पुस्तकों में अक्षरों को चक सीध में लिखने के लिए लेखक रेखापाटी का प्रयोग किया करते थे। जैन साधू लोग भी ग्रन्थ लेखक में इसका प्रयोग करते हैं। यह रेखापाटी कई प्रकार की बनी होती है। कुछ रेखापाटियाँ दफ्ती की बनती हैं कुछ लकड़ी की। लकड़ी या दफ्ती की पतली पट्टी पर दोनों ओर भिन्न २

अन्तर वाली डोरों की समानान्तर पंक्तियां बनाकर वे रोगन आदि से चिपका दी जाती है जिससे वे जम जाती है और हिलती डुलती नहीं हैं, कुछ लोग डोरों को चिपकाते नहीं वरन डोरों को रेखापाटी के दोनों ओर लपेटकर एक तरफ बीच में किसी लकड़ी आदि के द्वारा डोरों को कसते हैं। इससे एक तरफ की डोरियाँ बिल्कुल कस जाती है। बाद में इन डोरों से पंक्तियाँ बनी हुई रेखापाटी पर कागज रखकर अंगुली दबाकर चलाने से या हाथ दबाकर चलाने से कागज पर डोरों का निशान पड़ जाता है और पंक्तियां बन जाती हैं। इन्हीं रेखापाटियों से खड़ी लकीर खींचकर ही हाशिए भी बनाए जाते थे। इस प्रकार पंक्तियाँ सीधी बन जाती थी और इन सी पंक्तियों पर लिखने से अक्षर भी एक सीध में आते थे ताड़पत्रों पर लिखी पुस्तकों में पंक्तियाँ सीधी लाने के लिए पहले उन पर काली या रंगीन स्याही की बहुत बारीक लकीरें खींच ली जाती थीं अथवा लोहे के बारीक तीखे गोल मुंह की कलम से उनके निशान बना लिए जाते थे। भोज पत्रों पर भी पंक्तियाँ सीधी बनाने के लिए ऐसा ही करते थे।

(५) हरताल—प्राचीन काल की लेखन सामग्री में हरताल का विशेष महत्व है प्राचीन काल में यदि लिखते लिखते कोई त्रुटि हो जाती थी तो उसको मिटाने की आवश्यकता पड़ती थी जिससे समस्त ग्रंथ शुद्ध रूप में तथा सुन्दर दिखे। इसके लिए रबड़ के अभाव में एक प्रकार के पीले पदार्थ का उपयोग किया जाता था जिसे हरताल कहते थे। लिखे हुए अक्षरों पर हरताल लगाने से अशुद्ध अक्षर धूमिल पड़ जाता था और उस पर सही अक्षर लिख दिया जाता था। हरताल के लेप से अक्षर पूर्णतया मिटते नहीं थे किन्तु धूमिल अवश्य पड़ जाते थे। यही कारण कि आज भी कुछ प्राचीन प्रतियों के वे अक्षर भी प्रयत्न करके पढ़ लिए जाते हैं जिनके ऊपर हरताल लगाकर दूसरे अक्षर लिखे हुए हैं। डा० माता प्रसाद गुप्त ने ऐसी अनेक मानस आदि ग्रंथों की प्रतियों का उल्लेख किया है जिनके हरताल लगने के पूर्व के तथा बाद के दोनों ही अक्षर सरलता से पढ़े जा सकते हैं।

परिशिष्ट २

कुछ महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द और उनके अंग्रेजी पर्याय

अंक-भ्रम	Confusion of Numbers or Numerals
अंतरंग	Internal, Intrinsic
अंतरंग संभावना	Intrinsic Probability
अंतः साक्ष्य, अंतर्साक्ष्य	Intrinsic endence
अनुदार वर्ग	Conservative School
अनुपलब्ध	Non-Extant
अमिश्रित	Non Conflated
अर्द्ध सचेष्ट	Semi-voluntary
आदर्श	Exemplar
उच्चतर आलोचना	Higher Criticism
उच्चारण भ्रम	Phonetic-Confusion
उदार वर्ग	Liberal School
उपलब्ध	Extant
काम चलाऊ	Stop-gap
क्षेपक	Interpolation
गौण	Secondary
गौण संबंध	Secondary Relationship
गौण सामग्री	Testimonial
पाठ	Text, Reading
पाठ-निर्धारण	Recensio, Recension
पाठ-न्यूनता	Lacuna
पाठ-परिवर्तन	Alteration of the text
पाठ-विकृति	Corruption in the text
पाठ-विवेचन	Higher Criticism
पाठ-वृद्धि	Addition of the text
पाठ-व्यत्यय	Transposition
पाठ-संपादन	Textual Criticism
पाठ-सुधार	Emendatio. Emendation

पाठ-ह्रास	Omission of the text
पाठानुसंधान	Textual Criticism
पाठान्तर	Variant Reading
पाठालोचन	Textual Criticism
पुनरावृत्ति	Dittograph
पुष्पिका	Colophon
प्रक्षेप	Interpolation
प्रति	Manuscript (Mss) Text
प्रतिलिपि	Transmitted Text
प्राचीनतम प्रति	Archetype
पृथक्करण	Seperation
वहिरंग	External, Extrinsic
वहिरंग संभावना	Extrinsic Probability
बहिर्साक्ष्य	Extrinsic Probability
भ्रम	Confusion
मिलान	Collation
मिश्र पाठ	Conflated Reading
मिश्रित प्रति	Conflated Text, Misch-codex
मुख्य संबंध	Primary Relationship
मूल प्रति	Autograph, Original copy
रूपान्तर	Recension
लेखन-प्रमाद	Lipography
लेखनानुसंगति	Documentary or Graphic Probability, Extrinsic Probability
वंश वृक्ष	Pedigree, Genealogical table
वर्णभ्रम	Confusion of letters
विकृतियां	Corruptions
विकृत पाठ	Corrupted Text
विद्यमान	Extant
विषयानुसंगति	Intrinsic Probability
शब्द-भ्रम	Confusion of words
संकीर्ण	Secondary
संकीर्ण संबंध	Secondary Relationship
संकेत-भ्रम	Confusion of Symbols
संक्षिप्ताकार	Simplicior
संबंध	Relationship
संभावना	Probability

सचेष्ट	Voluntary
सहज	Involuntary
सहायक सामग्री	Testimonia
साक्ष्य	Evidence, Probability
सामग्री-संकलन और वंश-वृक्ष-निर्माण	Heuristics
स्थानान्तर	Anagrammatism
स्वहस्त लिखित प्रति	Autograph
हाशिए का पाठ	Marginalia

परिशिष्ट ३

कुछ महत्वपूर्ण अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द और उनके हिन्दी पर्याय

Anagrammatism	स्थानान्तर
Apparatus criticusm	मुख्य सामग्री
Archetype	प्राचीनतम प्रति
Authenticity	प्रामाणिकता
Autograph	स्वहस्तलिखित प्रति, मूल प्रति
Codex, Codices	प्रति, प्रतियां
Codices deteriores	भ्रष्ट प्रतियां
Conjective	अनुमान
Collation	मिलान
Colophon	पुष्पिका
Conflation	मिश्रण
Corruption	विकृति
Critical Recension	पाठ-निर्धारण
Dittography	पुनरावृत्ति
Documental Probability	बहिसाक्ष्य, लेखानुसंगति
Emendatio, Emandation	पाठ-सुधार
Exemplar	आदर्श
Extant	प्राप्त, विद्यमान
Extrinsic Probability	बहिसाक्ष्य, लेखानुसंगति
Geneological Method	वंशानुक्रम-पद्धति
Graphical probability	लेखानुसंगति
Haplography	समप्लुति
Heuristic	सामग्री-संकलन और वंश-वृक्ष-निर्माण
Higher Criticism	उच्चतर आलोचना, पाठ-विवेचन
Hypothetical Common Ancestor	काल्पनिक मूलादर्श

Interpolation — प्रक्षेप, क्षेपक
Intrinsic Probability — अंतर्साक्ष्य; अंतरंग संभावना विषयानुसंगति
Lacuna — पाठ-न्यूनता
Lectio difficilior — कठिन पाठ
Lectio facilior — सरल पाठ
Lectio vulgate — प्रचलित पाठ
Lipography — लेखन-प्रमाद
Manuscript — हस्तलिखित प्रति
Marginalia — हाशिए का पाठ
Misch-codex — मिश्रित प्रति
Non-extant — अप्राप्त, अनुपलब्ध
Pedigree — वंश-वृक्ष
Recensio, Recension — पाठ-निर्धारण
Recension — रूपान्तर, शाखाएं
Secondary — गौण, संकीर्ण
Sub-recension — उपरूपान्तर, उपशाखाएं
Testimonium — सहायक सामग्री
Textus ornatior — बृहद् पाठ
Textus simplicior — संक्षिप्त या लघु पाठ
Ur — काल्पनिक
Vulgate — प्रचलित

परिशिष्ट ४

सहायक ग्रंथ

Burkitt, F. C—Bible (New Testament—Textual Criticism, and Higher Criticism) in Encyclopaedia Britannica.

Diringer, D—Alphabet.

Edgerton, F.—Panchantantra Reconstructed.

Gray, G. B. and Peak, A. S.—Bible (Old Testament—Textual Criticism, and Higher Criticism) in Encyclopaedia Britannica.

Hall, F. W.—Companion to Classical Texts.

Jebb, R. C.—A Companion to Greek Studies.

Katre, S. M.—Introduction to Indian Textual Criticism.

Postgate, J. P.—Textual Criticism in Encyclopaedia Britannica.

Sukthanker, V. S.—Prolegomena to the critical edition of the Adi parvan of the Mahabarata.

Sukthankar, V. S.—Critical Studies in the Mahabarata. (Sukthanker Memorial Edition, Vol. I)

पं० उमाशंकर शुक्ल —कवित्त रत्नाकर

—नंददास ग्रंथावली

श्री कन्हैया सिंह —पाठ संपादन के सिद्धांत

म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा —प्राचीन लिपिमाला

श्री गियर्सन और पं० सुधाकर द्विवेदी —पद्मावत

श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' —बिहारी रत्नाकर

डॉ० माताप्रसाद गुप्त —अर्द्धकथा

—'पाठानुसंधान' लेख 'अनुसंधान की प्रक्रिया' सं० डॉ० सावित्री सिन्हा

—पाठालोचन—हिन्दी साहित्य कोष में

—छिताई वार्ता

—जायसी ग्रन्थावली

—मधुमालती

—रामचरित मानस का पाठ

—बीसलदेव रास

डॉ० पारसनाथ तिवारी —कबीर ग्रंथावली

रामचन्द्र शुक्ल —जायसी ग्रंथावली

श्री लीलाधर गुप्त —पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धाँत

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —केशव ग्रन्थावली

पत्र-पत्रिकाएं

आलोचना

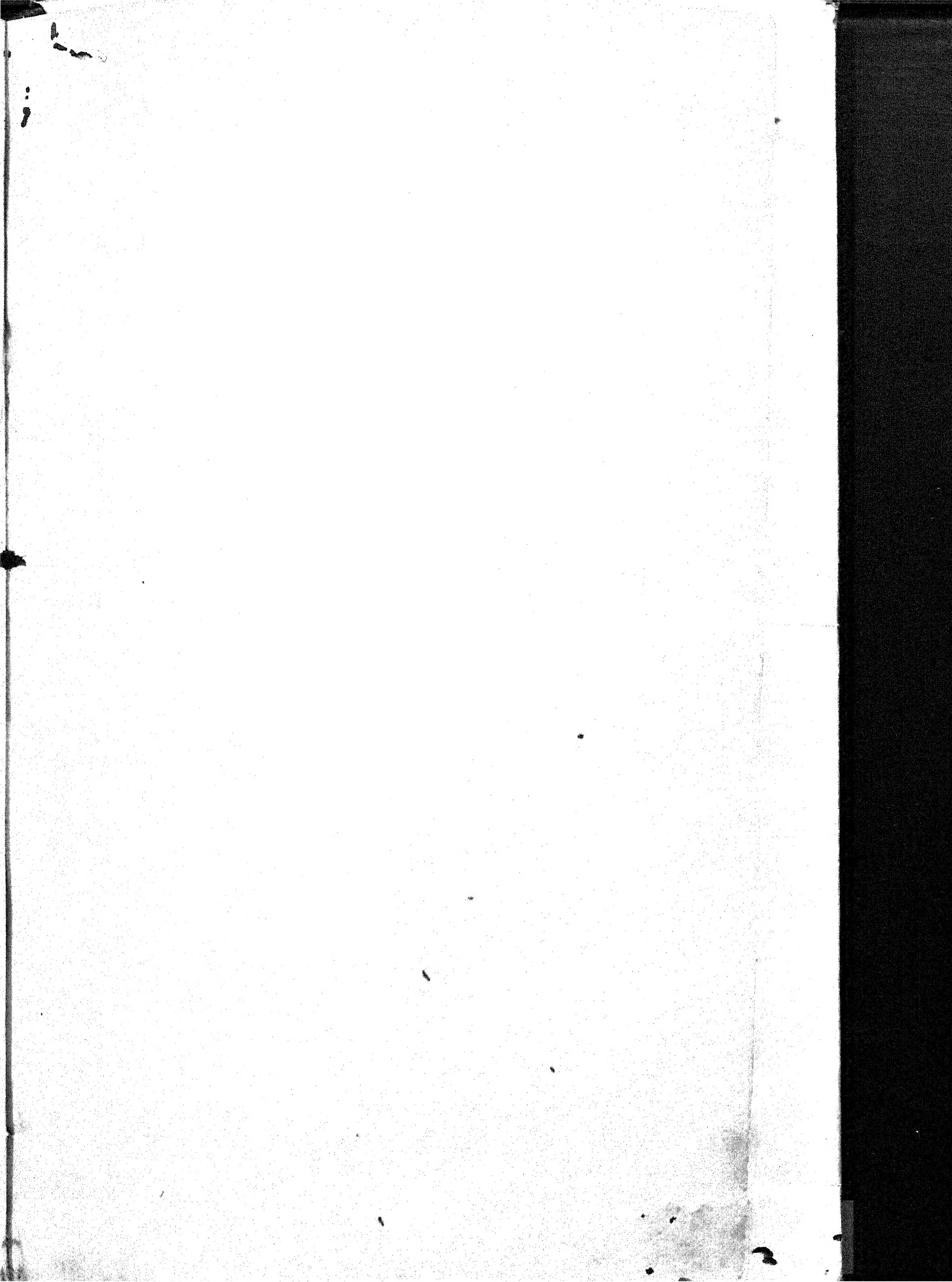
नागरी प्रचारिणी पत्रिका

सम्मेलन पत्रिका

साहित्य सन्देश

हिन्दी अनुशीलन

हिन्दुस्तानी



Postgate, J. P.—Textual Criticism in Encyclopaedia Britannica.

Sukthanker, V. S.—Prolegomena to the critical edition of the Adi parvan of the Mahabarata.

Sukthankar, V. S.—Critical Studies in the Mahabarata. (Sukthanker Memorial Edition, Vol. I)

पं० उमाशंकर शुक्ल —कवित्त रत्नाकर
—नंददास ग्रंथावली

श्री कन्हैया सिंह —पाठ संपादन के सिद्धांत

म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा —प्राचीन लिपिमाला

श्री गियर्सन और पं० सुधाकर द्विवेदी —पद्मावत

श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' —बिहारी रत्नाकर

डॉ० माताप्रसाद गुप्त —अर्द्धकथा
—'पाठानुसंधान' लेख 'अनुसंधान की प्रक्रिया' सं० डॉ० सावित्री सिन्हा
—पाठालोचन—हिन्दी साहित्य कोष में
—छिताई वार्ता
—जायसी ग्रन्थावली
—मधुमालती
—रामचरित मानस का पाठ
—बीसलदेव रास

डॉ० पारसनाथ तिवारी —कबीर ग्रंथावली

रामचन्द्र शुक्ल —जायसी ग्रंथावली

श्री लीलाधर गुप्त —पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —केशव ग्रन्थावली

पत्र-पत्रिकाएं

आलोचना
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
सम्मेलन पत्रिका
साहित्य सन्देश
हिन्दी अनुशीलन
हिन्दुस्तानी

